हर कदम, हर डगर
किसानों का हमसफर
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद
Agrisearch with a human touch

राजभाषा पत्रिका
(जुलाई-दिसंबर, 2012)
वर्ष 13 अंक 2

उद्यान रश्मि

भाकृअनुप
ICAR

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान

रहमानखेड़ा, पोस्ट काकोरी, लखनऊ- 226 101, उ0प्र0
दूरभाष : 0522–2841022, 24 फैक्स : 0522–2841025
ई–मेल : cish.lucknow@gmail.com
वेबसाइट : www.cishlko.org
मीडिया संसाधन कक्ष : 0522–2841082

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का गीत

जय जय कृषि परिषद भारत की,
सुखद प्रतीक हरित भारत की,
कृषिधन, पशुधन मानव जीवन,
दुग्ध, मत्स्य, फल, यंत्र सुवर्धन,
वैज्ञानिक विधि नव तकनीकी,
पारिस्थितिकी का संरक्षण,
सस्य-श्यामला छवि भारत की,
जय जय कृषि परिषद भारत की।

हिम प्रदेश से सागर तट तक,
मरु धरती से पूर्वोत्तर तक,
हर पथ पर है, मित्र कृषक की,
शिक्षा, शोध, प्रसार सकल तक,
आशा स्वावलंबित भारत की,
जय जय कृषि परिषद भारत की।
जय जय कृषि परिषद भारत की।।

© केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान
रहमानखेड़ा, लखनऊ

संरक्षक
एच. रविशंकर
निदेशक
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान
रहमानखेड़ा, लखनऊ-226 101

प्रकाशन समिति
डी. के. टंडन
धीरज शर्मा

अस्वीकरण :

इस पत्रिका में प्रकाशित लेखों के लिए लेखक उत्तरदायी हैं न कि केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ, इसके प्रकाशक या संरक्षक। उपयोगकर्ताओं को यह सलाह दी जाती है कि पत्रिका में दी गयी जानकारियों को उपयोग में लाने से पहले किसी विशेषज्ञ से विचार-विमर्श करें/सलाह लें।

प्रकाशक एवं सम्पर्क सूत्र
निदेशक
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, रहमानखेड़ा, पोस्ट-काकोरी, लखनऊ-226 101
फोन : 0522-2841022-24, फैक्स : 0522-2841025
मीडिया संसाधन कक्ष नं. : 0522-2841082
ई-मेल : cish.lucknow@gmail.com
वेबसाइट : www.cishlko.org

प्राक्कथन

किसी भी देश के समुचित विकास में अन्य घटकों की भाँति ही कृषि की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। इसका महत्व भारत जैसे विकासशील देश के लिए और भी अधिक बढ़ जाता है जहाँ देश की 60 प्रतिशत से अधिक आबादी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर करती है। भारत के कृषि क्षेत्र में हो रहे विकास में बागवानी की भी प्रशंसनीय भूमिका रही है। जिस प्रकार देश के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का लगभग 18 प्रतिशत योगदान है, उसी प्रकार बागवानी का कृषि क्षेत्र में 32 प्रतिशत योगदान है। जैसे-जैसे देश में आर्थिक विकास हो रहा है उसी अनुपात में बागवानी के प्रति लोगों की जागरूकता भी बढ़ रही है। आज न केवल किसान/बागवान सीमित भूमि में बागवानी कर अधिक मात्रा में फल, सब्जियाँ पैदा कर रहे हैं अपितु आम जनमानस भी अधिक-से-अधिक मात्रा में बागवानी फसलों का सेवन कर स्वास्थ्य का लाभ पा रहे हैं।

बागवानी के प्रति लोगों की बढ़ती जागरूकता के मद्देनजर केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ समय-समय पर प्रकाशित पत्रिकाओं के माध्यम से यहाँ विकसित प्रौद्योगिकियों/तकनीकियों को किसानों, बागवानों आदि तक पहुँचाता रहा है जिससे कि उन्हें इनका पर्याप्त लाभ मिल सके।

'उद्यान रश्मि' का यह संस्करण एक बार पुनः पाठकों के समक्ष उपोष्ण बागवानी की नवीनतम जानकारियों के साथ प्रस्तुत है। इसमें निहित लेखों के माध्यम से यह प्रयास किया जा रहा है कि संबंधी विषयों की जानकारी अधिक-से-अधिक किसानों, बागवानों एवं पाठकों तक पहुँचे जिससे कि उन्हें प्रौद्योगिकियों/तकनीकियों संबंधी उपलब्ध जानकारियों का समुचित लाभ हो सके। **'उद्यान रश्मि'** हमेशा से ही संस्थान और अन्य क्षेत्र से जुड़े हुए लोगों के द्वारा किये गये अनुसंधान कार्यों की वाहिका रही है। प्रस्तुत संस्करण में भी अमरूद, केला, आँवला, पपीता आदि फलों पर नवीनतम जानकारी उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है। इसके प्रकाशन के सुअवसर पर मैं फिर एक बार आशा करता हूँ कि संस्थान के सभी अधिकारी एवं कर्मचारी राजभाषा नीति का पालन करें। साथ ही इस अवसर पर मैं लेखकों एवं राजभाषा कार्यान्वयन समन्वयन समिति के सभी सदस्यों को बधाई देता हूँ।

(एच. रविशंकर)
निदेशक

सम्पादकीय

संस्थान की राजभाषा पत्रिका 'उद्यान रश्मि' का नूतन संस्करण एक बार पुनः पाठकों के समक्ष अद्यतन जानकारी के साथ प्रस्तुत है। इस संस्करण में भी किसानोपयोगी लेखों को समाहित किया गया है। विगत अंकों के प्रत्युत्तर में आये पत्रों को ध्यान में रखते हुए इसे वैविध्यता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। राजभाषा हिन्दी में प्रकाशित इस पत्रिका को किसानों, बागवानों तथा अन्य पाठकों ने सराहा है। इसकी भाषाई गुणवत्ता के कारण ही इसे हिन्दुस्तान ऐरोनाट्रिक्स लिमिटेड, लखनऊ में नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठक के दौरान द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया गया। साथ ही केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ को हिन्दी में उत्तम कार्य करने हेतु प्रथम पुरस्कार भी प्रदान किया गया। इन उपलब्धियों के लिए संस्थान के सभी अधिकारी एवं कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उनकी सहयोग के बिना यहाँ तक की यात्रा संभव नहीं थी।

आशा करता हूँ कि इस संस्करण में उद्धृत लेख पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक होगा तथा सभी का सहयोग भविष्य में भी जारी रहेगा।

धीरज शर्मा

(धीरज शर्मा)
सहायक निदेशक
(राजभाषा)

विषय-वस्तु

आम विविधता अनुरक्षण समिति : एक परिचय 1

शैलेन्द्र राजन

आनुवंशिक फसलों की जैव सुरक्षा 5

मनीष मिश्र

कृषि में नैनो प्रौद्योगिकी का महत्व 8

तरुण अदक, कैलाश कुमार, विनोद कुमार सिंह एवं अनिल कुमार सिंह

फल वृक्षों का पाला से बचाव 10

देवेन्द्र पाण्डेय एवं अखिलेश कुमार

आम के बागों का कैनोपी प्रबंधन एवं जीर्णोद्धार 14

दुष्यंत मिश्र

टिशू कल्चर केला की उत्तर प्रदेश में व्यावसायिक खेती 20

राम कुमार

आँवला की वैज्ञानिक खेती एवं औषधीय उपयोग 24

अजय कुमार त्रिवेदी, सुरेश कुमार वर्मा, गणेश लाल एवं रतन राम आर्या

चिरौंजी की बागवानी एवं उसकी उपयोगिता 29

ए.के. सिंह एवं जे.पी. सिंह

पॉलीहाउस में अनिषेकफलक (पार्थेनोकारपिक) खीरे की खेती 32

वी.के. सिंह, कामिनी सिंह एवं अनुराग सिंह

फल वृक्षों के लिए मृदा जल का महत्व 36

कैलाश कुमार, तरुण अदक एवं विनोद कुमार सिंह

आम में दैहिकीय विकार एवं पोषक तत्वों की कमी 39

ए.के. मिश्र एवं वी.के. सिंह

लीची का दैहिक विकारों से बचाव 45

राजेश कुमार

अमरूद के बागों को रखें कीट एवं बीमारियों से मुक्त 51

दीपक कुमार जैन एवं आनन्द सिंह जोधा

कृषि कार्य में कवकनाशी प्रतिजैविकी का उपयोग 56

ए.के. भट्टाचार्जी एवं डी.के. शुक्ल

टमाटर के मूल्यवर्धित उत्पाद 59

डी.के. टंडन एवं डी.के. शुक्ल

बंद गोभी का किण्वित अचार 65

नीलिमा गर्ग एवं संजय कुमार

कृषि वानिकी पद्धतियाँ एवं लाभ 67

गणेश शुक्ला, कृपाल सिंह, बजरंग सिंह एवं अनिल कुमार सिंह

केला का बहुआयामी महत्व 70

डी.के. टंडन एवं रेखा चौरसिया

आणविक खेती एवं मानव स्वास्थ्य 75

निमिषा शर्मा, मीनाक्षी मलिक, मनीष मिश्र एवं मुत्थु कुमार

आम विविधता अनुरक्षण समिति : एक परिचय

शैलेन्द्र राजन[1]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

लखनऊ का मलिहाबाद क्षेत्र अपनी उच्च गुणवत्ता वाले अद्वितीय आम की किस्मों के लिए विश्व विख्यात है। अनेक पीढ़ियों से यहाँ के किसान दुर्लभ प्रकार के आम की किस्मों को संरक्षित किये हुए हैं। इन किस्मों के अव्यावसायिक होने के कारण इनकी संख्या निरंतर कम होती जा रही है जिससे किसानों को इन आम की किस्मों के संरक्षण की आवश्यकता महसूस हुई।

अतः यूनेप-जेफ (UNEP-GEF) परियोजना तथा केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ की प्रेरणा से कृषक समुदाय के आर्थिक सशक्तिकरण एवं बागों में आम विविधता के अनुरक्षण के लिए आम विविधता अनुरक्षण समिति नामक एक संगठन की स्थापना लखनऊ के मलिहाबाद क्षेत्र में सन् 2009 में की गयी जिसका पंजीकरण वर्ष 2011 में हुआ। कसमंडी कलाँ, गोपरामऊ, सरसण्डा तथा मोहम्मद नगर तालुकेदारी के सदस्यों से मिलकर बनी यह समिति आम उत्पादक समुदायों को उनका अधिकार दिलाने के अलावा उनके द्वारा उत्पादित फल एवं उत्पादों का अधिक मूल्य दिलाने में सहायता करती है। समिति आम विविधता जागरूकता अभियान, उनका दस्तावेजीकरण, आम विविधता पर मेलों का आयोजन, कृषक अध्ययन यात्रा, प्रशिक्षण और बैठकों जैसे महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समय-समय पर बागवानों को सुझाव भी देती है। समिति किसानों को नये-नये बाजारों से भी जोड़ती है जिससे कि उन्हें उनके द्वारा उत्पादित दुर्लभ, अव्यावसायिक एवं नानाविध किस्मों से अतिरिक्त आय प्राप्त हो सके।

आम विविधता अनुरक्षण समिति एक गैर लाभकारी एवं गैर सरकारी समुदाय आधारित संगठन है। यह समिति बागों में आम की किस्मों के संरक्षण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। वर्तमान समय में इस समिति से 500 से अधिक आम उत्पादक किसान जुड़े हुए हैं। एक आकलन के अनुसार आम की लगभग 3000 से अधिक आम की प्रजातियाँ इस समिति के अधिकार क्षेत्र में है।

उद्देश्य

- आम की प्रजातियों को विकसित कर उन्हें नये-नये बाजार में आने वाले क्रेताओं से जोड़ना एवं किस्मों के मूल्य का संवर्धन करना।
- आम विविधता सरंक्षण के लिये समुदाय के किसानों में जागरूकता एवं सशक्तिकरण के द्वारा बागों में संरक्षण।

[1]**प्रभागाध्यक्ष, फसल सुधार एवं जैवप्रौद्योगिकी**

- पारंपरिक और गैर-व्यावसायिक आम की किस्मों के उपयोग एवं व्यवसाय के माध्यम से आजीविका में सुधार।

आम किस्म सम्पदा

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान एवं बायोवर्सटी इन्टर्नेशनल के वैज्ञानिकों द्वारा इन समुदायों में आम की विविधता का अध्ययन किया गया ताकि किस्मों के संरक्षण को प्रोत्साहित कर विकल्प प्रदान किया जा सके। इस कार्य योजना का मुख्य उद्देश्य आम विविधता से किसानों को बेहतर आय प्राप्त कराना तथा उनके जीवन-यापन को उठाना है। इससे आम की किस्मों के संरक्षण के प्रयास को प्रोत्साहन भी मिलेगा। इसके अन्तर्गत किसानों की सहभागिता से आम विविधता मेलों एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन भी किया जाता है जिससे स्थानीय आम की किस्मों की विविधता का मूल्यांकन हो और आम सूचीपत्र (कैटेलॉग) बनाने के लिए जानकारी प्राप्त हो सके।

मलिहाबाद के अधिकतम समुदायों में दशहरी आम की मुख्य किस्म है। किन्तु लखनऊवा, चौसा, फ़जरी, जौहरी सफेदा इत्यादि किस्मों की पैदावार बहुत ही छोटे स्तर पर की जाती है। बहुत सी ऐसी किस्में जैसे अब्दुल खालिद खान, अचारवाला, आमिन खुर्द, गिलास, फकीरा, फकीरवाला, गोला, हाथीझूल, हीरेहयात, जाफरबाग, कलुवा, खासुलखास, नवाब पसंद, नायाब, रामकेला, बेनज़ीर संडीला, तैमूरिया आदि भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु कुछ ही किसानों द्वारा बहुत छोटे स्तर पर इनकी पैदावार की जाती है। इसके अतिरिक्त बहुत सी दुर्लभ किस्में जो जनसाधारण को अज्ञात हैं अभी भी कृषकों के बागों में विद्यमान हैं। आम की किस्मों की विविधता के मूल्यांकन हेतु 364 बागों में अध्ययन किये जाने से ज्ञात हुआ कि अभी भी आम के कुल पेड़ों का 12 प्रतिशत से अधिक पारम्परिक एवं बीजू किस्मों का है। गोपरामऊ एवं सरसण्डा में बीजू एवं अव्यावसायिक आम की किस्मों की अधिक संख्या है।

आम विविधता मेला

समिति आम उत्पादक समुदायों के अधिकार और उनके आम विविधता का अधिक मूल्य दिलाने संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विविधता जागरूकता अभियान, दस्तावेजीकरण, आम विविधता मेलों, अध्ययन यात्राओं, प्रशिक्षण और बैठकों का आयोजन करती है। समुदाय के सदस्य जागरूकता, विचार-विमर्श, विविधता मेलों का आयोजन, बाजारों के अध्ययन, प्रशिक्षण और बातचीत के द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। संरक्षक किसानों ने निम्नलिखित आम विविधता के मेलों में भाग लिया तथा पुरूस्कार भी प्राप्त किए।

- आम विविधता मेला 18 जून 2011 को कसमंडी कलाँ में आयोजित किया गया जहाँ समुदायों के 92 बागों की प्रजातियों का प्रदर्शन किया गया।
- 28 मई 2011 को देहरादून में आम विविधता मेला का आयोजन किया गया, जहाँ 50 प्रकार की आम की किस्मों का प्रदर्शन किया गया।
- जैव और अजैव तनाव के उभरते परिदृश्य में लखनऊ में आयोजित अखिल भारतीय आम प्रदर्शनी में 22 से 24 जून 2011 में सर्वाधिक

250 किस्मों को प्रदर्शित कर समिति के किसानों ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया।

- भुवनेश्वर में 28 से 31 मई 2012 तक आयोजित वैश्विक सम्मेलन में समिति को सर्वाधिक आम प्रजातियों की प्रदर्शनी (50 प्रजातियों) के लिए प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।
- 2 जुलाई 2012 को कसमंडी कला में आयोजित आम प्रदर्शनी में किसानों ने 425 किस्मों का प्रदर्शन किया।

सामुदायिक आम विविधता सूचीपत्र (कैटेलॉग)

समुदायों में उपलब्ध आनुवंशिक विविधता के प्रलेखन के लिए समिति द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है। आम की किस्मों के विलेखीकरण हेतु आम विविधता सचित्र सूचीपत्र तैयार किया गया है। सूचीपत्र की सहायता से सामुदायिक किस्मों में विद्यमान महत्वपूर्ण, अद्वितीय सुगंध और स्वाद शहरी बाजारों में आकर्षक कीमतों को प्राप्त करने में सहायक होता है।

शहरी बाजारों में व्यावसायिक एवं प्रचलित किस्मों की माँग ज्यादा होने के कारण दुर्लभ किस्मों को बेचने तथा उनका उचित मूल्य प्राप्त करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अतः शहरी बाजारों में दुर्लभ किस्मों को बेचने तथा उपभोक्ताओं को उनके प्रति जागरूक करने के लिए इन किस्मों को सूचीबद्ध करना अनिवार्य है। समुदाय को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए आम विविधता सूचीपत्र का बहुत बड़ा महत्व है। समिति द्वारा सम्भावित खरीददारों की पहचान एवं विपणन सम्पर्क बढ़ाया जा रहा है। सामुदायिक आम विविधता सूचीपत्र कृषकों की सहभागिता को ध्यान में रखते हुए विकसित किया गया है। समुदायों में उपलब्ध आनुवंशिक विविधता के प्रलेखन हेतु समुदाय के सदस्यों को प्रशिक्षित किया गया है। वैज्ञानिकों द्वारा किसान डिस्क्रिप्टर का उपयोग एवं किसानों को विविधता के प्रलेखन पर प्रशिक्षण दिया गया। सामुदायिक आम विविधता सूचीपत्र दैनिक सामाजिक एव सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रचार और किस्मों में सुधार लाने के लिए सबसे अच्छी सामग्री है।

सामुदायिक पौधशाला एवं मानव संसाधन सुधार

समिति किसानों की जरूरतों को पूरा करने के लिए ज्ञान और कौशल के साथ सामुदायिक पौधशाला नेटवर्क विकसित करने के लिए भी काम करती है। सामुदायिक पौधशाला को पारम्परिक किस्मों के संरक्षण तथा पौधों की समुदाय तथा बाह्य/इच्छुक कृषकों की पौधों की आवश्यकता की आपूर्ति के लिए विकसित किया गया है। सामुदायिक पौधशाला के द्वारा स्थायी विविधता संरक्षण एवं दुर्लभ किस्मों के महत्व के बारे में जागरूकता का कार्य किया जा रहा है। सामुदायिक पौधशाला के सदस्य आपसी भागीदारी एवं केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ की तकनीकी सहायता के द्वारा प्रवर्धन कौशल में सुधार एवं प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। समुदाय आम सूचीपत्र (कैटेलॉग) के लिए किसानों की जानकारी हेतु संग्रह प्रशिक्षण, विविधता की फोटोग्राफी, सूची विकास और समुदाय के लोगों के साथ विचार-विमर्श द्वारा जानकारी संग्रहीत की गयी। निम्नलिखित पहलुओं पर केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान के वैज्ञानिकों और तकनीकी

अधिकारियों द्वारा मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण प्रदान किया गया।

- कच्चे आम का पना, अमचूर और अन्य उत्पाद।
- आम फल तुड़ाई एवं भंडारण।
- उत्पाद बनाते समय स्वच्छता और खाद्य सुरक्षा।

फल परिरक्षण, कीट और रोग प्रबंधन, कीटनाशकों के सुरक्षित उपयोग, बोरान की कमी जैसी समस्याओं के निराकरण हेतु समुदाय के सदस्यों को विशेषज्ञ सुझाव नियमित रूप से दिये जाते हैं। समुदाय के सदस्यों द्वारा गैर व्यावसायिक किस्मों के लिए भी अधिक मूल्य प्राप्त करने, शहरी बाजारों में दुर्लभ किस्मों को बेचने तथा उपभोक्ताओं को उनके प्रति जागरूक करने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया गया है।

दिल्ली की मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित अनुरक्षण समिति के स्टॉल का भ्रमण करती हुई

डॉ. एस. अय्यप्पन, महानिदेशक, भा.कृ.अनु.परि., नई दिल्ली अनुरक्षण समिति के सदस्य को सम्मानित करते हुए

आनुवंशिक फसलों की जैव सुरक्षा

मनीष मिश्र[1]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

मौसम में हो रहे परिवर्तन ने कृषि शोध में हलचल मचा दी है। तापमान, बारिश और समुद्री स्तर में हो रहे बदलाव से कृषि परोक्ष रूप से प्रभावित हो रही है। मौसम में हो रहे बदलाव की पृष्ठिभूमि में जैव-तकनीक एक प्रभावी औजार के रूप में हमारे सामने है। हाल ही के वर्षों में विश्व के अनेक देशों में जेनेटिकली माडीफाइड (जी.एम.) फसलों पर शोध एवं विकास में गति आयी है। अमेरिका, अर्जेंटीना, ब्राजील, कनाडा, चीन, पैरागुए, दक्षिण अफ्रीका एवं भारत में जी.एम. फसलें बड़े क्षेत्र में पैदा की जा रही हैं। आस्ट्रेलिया, चेक गणराज्य, जर्मनी, इरान, पुर्तगाल, कोलम्बिया, फ्रांस, होन्डूरास, मेक्सिको, फिलीपीन्स, रोमानिया, स्पेन, स्लोवाकिया एवं ऊरूगवे में जी. एम. फसलें कम क्षेत्रफल में पैदा की जा रही हैं। मुख्यतः चार जी. एम. फसलें सोयाबीन, मक्का, कपास और कनोला काफी बड़े क्षेत्र में पैदा की जा रही हैं (सारणी-1) जबकि आलू, पपीता, अल्फा-अल्फा एवं स्क्वाश व्यावसायिक स्तर पर सही लेकिन तुलनात्मक रूप से कम क्षेत्रफल में पैदा की जा रही हैं।

सारणी 1: जी.एम. फसलों का व्यावसायिक उत्पादन (1996-2006)

जी.एम. फसल	जी.एम. फसल उत्पादन (%)	विशेषता	उत्पादन वर्ष
सोयाबीन	62 प्रतिशत	खरपतवारनाशी प्रतिरोधकता	1996
मक्का	22 प्रतिशत	कीट प्रतिरोधकता खरपतवारनाशी प्रतिरोधकता	1996 1997
कपास	11 प्रतिशत	कीट प्रतिरोधकता खरपतवारनाशी प्रतिरोधकता	1996 1997
कमोला	5 प्रतिशत	खरपतवारनाशी प्रतिरोधकता	1996
आलू	-	कीट प्रतिरोधकता	1996
अल्फा-अल्फा	-	खरपतवारनाशी प्रतिरोधकता	2006
पपीता	-	विषाणु प्रतिरोधकता	1999
स्क्वाश	-	विषाणु प्रतिरोधकता	1996

श्रोत : जेम्स, 2007

[1]**वरिष्ठ वैज्ञानिक**

कीट, व्याधियों एवं खरपतवारनाशी प्रतिरोधी फसलों के साथ-ही-साथ अन्य नये गुण जैसे सूखे एवं अत्याधिक ठंड को सहन करने की क्षमता को भी फसलों में डाला जा रहा है ताकि बदलते हुए मौसम के अनुरूप कृषि की नयी जमीन तैयार की जा सके। जी.एम. फसलों के आगमन के साथ ही तमाम चिंताये भी व्यक्त की जा रही हैं कि क्या ये फसलें मानव और वातावरण को प्रभावित करेंगी। भारत में पहली जी.एम. फसल कपास थी जो बाल वर्म नामक कीट के प्रति प्रतिरोधक क्षमता रखती है। बी.टी. कपास के बाद बी.टी. बैंगन पर शोध हुआ लेकिन राजनैतिक-सामाजिक विरोध के चलते इसे खेत में आने से पहले ही रोक दिया गया। क्या ये विरोध कोई वैज्ञानिक आधार रखते हैं? क्या जी.एम. फसलों से उत्पन्न खतरों की वैज्ञानिक पड़ताल की जानी चाहिए? जी.एम. फसलों के विनियम के लिए भारत में जी.ई.ए.सी. एवं आर.सी.जी.एम. जैसी दो शीर्ष संस्थायें काम कर रही हैं। हालाँकि जैव सुरक्षा देश में अभी तक पूर्ण विकसित विज्ञान का रूप नहीं ले पायी है।

क्या है जैव सुरक्षा?

जी. एम. फसलों से जैव विविधता पर खतरा मंडराने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। ऐसे में जैवसुरक्षा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ाने की आवश्यकता है। जी.एम. फसलों से वातावरण में चार तरह के खतरों की संभावना हो सकती है। यह है खरपतवारिता एवं आक्रमकता में वृद्धि, जीन बहाव, अलक्षित जीवों पर प्रभाव, एवं कीटों में प्रतिरोधक क्षमता का विकास। आइये जानते हैं कि कैसे जैव सुरक्षा में सेंध लग सकती है।

खरपतवारिता एवं आक्रमकता में वृद्धि

जी.एम. फसलों को लेकर सबसे बड़ी चिंता है कि ये अन्य संबंधित किस्मों को अत्याधिक खरपतवार या आक्रामक ना बना दें। खरपतवारिता का अर्थ है कि सामान्य फसलें खेतों में अधिक प्रतियोगी हो जायें जबकि आक्रमकता का संबंध उन पौधों से है जो प्राकृतिक वातावरण में अन्य पौधों की तुलना में अधिक प्रतियोगी हो जायें। उदाहरण के तौर पर लवण प्रतिरोधी जी.एम. फसलें अन्य लवणीय क्षेत्रों में जाकर बेहद आक्रामक हो सकती हैं और स्थानीय पौधों की तुलना में ज्यादा प्रतियोगी हो सकती हैं जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक संतुलन बिगड़ सकता है।

जीन बहाव

दूसरी सार्वभौमिक चिंता है जी. एम. फसलों में ट्रांसजीन का बहाव जो प्राकृतिक वातावरण में जा सकता है। यदि आसपास जी.एम. फसल के कुल का कोई खरपतवार मौजूद है तो पर-परागण के द्वारा उस किस्म की खरपतवारिता या आक्रमकता में तेजी से वृद्धि संभव है। इस खतरे को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। जीन का बहाव मुख्यतः पारंपरिक किस्मों, लैंडरेसेस एवं देशी प्रजातियों को प्रभावित कर सकता है। जी.एम. फसल के पास में यदि कोई आर्गेनिक खेती कर रहा है तो संभव है कि आर्गेनिक फसल ट्रांसजीन द्वारा संदूषित हो जाये। अभी तक यह कानून नहीं बना है कि जी.एम. फसलों को कितनी दूरी पर उगाना चाहिए। जीन बहाव के खतरे को मापने के लिए तीन बातों पर ध्यान रखना बेहद आवश्यक है। क्या जी.एम. फसल के पास कोई संबंधित किस्म पैदा की जा रही

है? क्या संबंधित किस्म की प्रकृति आक्रामक है? क्या ट्रांसजीन बहाव संबंधित किस्म की आक्रामकता को बढ़ा सकती है? यदि तीनों प्रश्न के उत्तर हाँ में हैं तो निश्चित तौर पर जैव सुरक्षा खतरे में है।

जरूरी नहीं है कि जीन का बहाव सिर्फ लिंगीय तरीकों से हो। हाल में प्रयोगशाला में किये गये परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि कुछ स्थितियों में ट्रांसजीन जी.एम. फसलों से सूक्ष्मजीवों में आसानी से स्थानान्तरित हो सकता है। यह परीक्षण चौंकाने वाला है, हालाँकि ऐसा सामान्य वातावरण में हो पायेगा अथवा नहीं यह एक विमर्श का विषय है।

अलक्षित जीवों पर प्रभाव

जी. एम. फसलें सिर्फ लक्षित कीट एवं सूक्ष्म जीवियों को ही प्रभावित करती हैं लेकिन यह भी पाया गया है कि कुछ उदाहरणों में अलक्षित कीट एवं सूक्ष्मजीवियों में जी.एम. फसलों द्वारा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कुछ जी.एम. फसलें कीटनाशक रसायन पैदा करती हैं। ऐसी फसलों में जब कीटनाशी का छिड़काव किया जाता है तो इन फसलों से सम्बद्ध कीट एवं सूक्ष्मजीवी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है फलतः जैव विविधता एवं पारिस्थितिकी तंत्र प्रभावित होते हैं। इसीलिए आवश्यक है कि संभावित अलक्षित कीट जो इससे प्रभावित होंगें उनकी जानकारी आवश्यक है। विशेषतः मधुमक्खी, मोनार्च तितली एवं केंचुए जैसे उपयोगी कीटों पर जी.एम. फसलों का प्रभाव के मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

नाशी जीवों में प्रतिरोधक क्षमता का विकास

नाशी जीवों (कीट, रोग जनक, खरपतवार) में प्रतिरोधक क्षमता का विकास जैव सुरक्षा से जुड़ा एक गंभीर मुद्दा है। ऐसा माना जाता है कि यदि कीट प्रतिरोधी जी.एम. फसल को लम्बे समय तक उगाया जाये तो कीटों में प्रतिरोधक क्षमता का विकास हो जायेगा। इसलिये आवश्यक है कि बी.टी. फसलों के साथ ही रिफ्यूजिया फसल को भी उगाया जाये ताकि प्रतिरोधी कीट विकसित ना हो पायें। ग्लाइफोसेट प्रतिरोधी 'राउंड अप रेडी' जी. एम. फसलों के आने के बाद से खरपतवार नाशी का प्रयोग तेजी से इन फसलों में बढ़ा है। फलतः खरपतवारों में प्रतिरोधक क्षमता का विकास हो रहा है जो चिंता का विषय है।

अन्य कृषि-पारिस्थितिकी चिंतायें

उपरोक्त खतरों के अतिरिक्त कुछ अन्य कृषि-पारिस्थितिकी विषय भी जैव सुरक्षा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। भारत में बी.टी. कपास के फैलाव के साथ ही अन्य कीटों जैसे मिरिड बग, टोबैको बटरफ्लाई इत्यादि की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। भारत जैसे विकासशील देश में खरपतवारनाशी प्रतिरोधी जी.एम. फसलें छोटे किसानों के लिए काफी चिंताजनक हो सकती हैं क्योंकि किसान कई फसलें एक साथ छोटे प्रक्षेत्र में उगाते हैं।

जैव सुरक्षा तुलनात्मक रूप से एक नया विषय है खाद्य सुरक्षा के दृष्टिकोण से जी.एम. फसलों की अनदेखी नहीं की जा सकती है। लेकिन बदलते कृषि आयामों में जैव सुरक्षा एक महत्वपूर्ण सोपान साबित होगा।

कृषि में नैनो प्रौद्योगिकी का महत्व

तरुण अदक[1], कैलाश कुमार[2], विनोद कुमार सिंह[3] एवं अनिल कुमार सिंह[3]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

नैनो टेकनोलॉजी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की एक नयी दिशा है जिसकी आधुनिक कृषि के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इसके माध्यम से उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। इस प्रौद्योगिकी का स्वास्थ्य, आंतरिक्ष, इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों आदि में भरपूर प्रयोग किया जा रहा है जिसका लाभ मानव जाति को मिल रहा है। भारत सहित विश्व के अन्य देशों में इसके उपयोग के लिए वृहत् स्तर पर अनुसंधान कार्य किया जा रहा है परन्तु कृषि में इसका प्रयोग अभी सीमित ही है। किसानों के लिए यदि यह प्रौद्योगिकी लाभप्रद हो सके तो यह कृषि की दशा एवं दिशा बदलने में महत्वपूर्ण कदम होगा। नैनो प्रौद्योगिकी द्वारा यदि रासायनिक खादों को तैयार किया जाये तो खाद की गुणवत्ता एवं उपयोगिता दोनों बढ़ जायेगी जिसके फलस्वरूप खेती के लिए कम मात्रा में खाद की आवश्यकता होगी। भविष्य में खाद्य प्रणाली, खाद्य एवं फल संरक्षण तथा वातावरण को प्रदूषण से मुक्त कराने में इस प्रौद्योगिकी का उपयोग करना हमारी अनिवार्यता हो जाएगी।

इतिहास गवाह है कि मध्यकालीन युग में खाने के बर्तनों पर सोने के नैनो-कणों से लेप किया जाता था जो आज भी उसी रूप में विद्यमान है। इस विशेषता का ज्ञान तत्कालीन लोगों को नहीं था। वर्तमान समय में विश्व की बढ़ती जनसंख्या, उद्योगों से बढ़ते प्रदूषण, संसाधनों के अभाव तथा बदतर स्वास्थ्य स्तर ने विश्व के वैज्ञानिकों को इस दिशा में सोचने के लिए मजबूर कर दिया है। वर्ष 1959 में भौतिकी में नोबल पुरूस्कार विजेता रिचर्ड फेनमैन ने नैनो विज्ञान एवं नैनो प्रौद्योगिकी की शुरूआत की थी। टोक्यो विश्वविद्यालय, जापान के वैज्ञानिक नोरियो तानागुची ने वर्ष 1974 में प्रथम बार इस तकनीक का नाम नैनो टेकनोलॉजी दिया था। इरिक डेक्सलर ने 1981 में इस तकनीक पर किये जा रहे कार्यों का विधिवत प्रकाशन प्रारम्भ किया।

गत दस वर्षों से विश्व के अनेक देशों में नैनो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर प्रयोग तथा शोध कार्य प्रगति पर है। वर्तमान आकड़ों के अनुसार विश्व में मात्र सात देशों अमेरिका, चीन, जर्मनी, फ्रांस, दक्षिण कोरिया, स्विटजरलैंड और जापान में ही इस तकनीक पर अधिकांश पेटेन्ट हो रहे हैं। आशा है कि आने वाले समय में इस प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल और ज्यादा हो सकेगा और निजी क्षेत्र की भागीदारी द्वारा निवेश में बढ़ोत्तरी होगी जिससे शोध कार्यों का स्तर ऊँचा हो सकेगा। भारत सरकार भी इस मामले में पीछे नहीं है। भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा वर्ष 2001 में नैनो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शुरूआत की जा चुकी है। इस विषय पर भारत सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजना में लगभग 1000 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। वर्तमान में देश की 30 से अधिक शोध संस्थाओं में

[1]वैज्ञानिक, [2]प्रधान वैज्ञानिक एवं [3]तकनीकी अधिकारी

इससे संबंधित शोध कार्य किये जा रहे हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा कृषि में नैनो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का लाभ उठाने के लिए शोध कार्यों की शुरूआत की जा चुकी है। देश के विभिन्न शोध संस्थानों और राज्य कृषि विश्वविद्यालयों के साथ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग समन्वय स्थापित कर काम कर रहा है।

नैनो प्रौद्योगिकी एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ बामन प्रौद्योगिकी है। एक नैनो मीटर एक मीटर का एक बिलियनवां $(1\ nm = 10^{-9}\ m)$ भाग होता है। यह एक बहुद्देशीय एवं बहुविभागीय विषय है जिसमें वैज्ञानिक, चिकित्सक एवं अभियन्ता एक साथ मिलकर कार्य कर सकते हैं। नैनो कण वह होते हैं जिनका आकार एक तरफ कम से कम 100 नैनोमीटर से कम होता है। नैनो कण तीन आकार के होते हैं। एक नैनो कण के गुण आकार के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं जो रासायनिक, यान्त्रिक, विद्युत और चुम्बकीय प्रभावों से प्रभावित होते हैं।

नैनो प्रौद्योगिकी का प्रयोग

- पौधों में संतुलित पोषक तत्वों की आपूर्ति में कार्य करता है।
- खरपतवारों के नियंत्रण में प्रभावी भूमिका निभाता है।
- बीजों के अंकुरण में उपयोगी कार्य करता है।
- मृदा स्वास्थ्य सुधार में उपयोगी है।
- रासायनिक एवं कार्बनिक उर्वरकों की उपयोग क्षमता को बढ़ाता है।
- पानी का विषैलापन दूर करने एवं पुनः उपयोग में लाने हेतु इसका उपयोग किया जा सकता है।
- खाद्य प्रसंस्करण में महत्वपूर्ण योगदान है।
- जल प्रबंधन में उपयोगी भूमिका अदा करता है।
- नैनो सेंसर द्वारा परिशुद्धता खेती में मृदा, उर्वरक और पानी के संतुलित उपयोग में सहायक हो सकता है।

रसायनिक खादों एवं उर्वरकों के प्रयोग से फसलों का उत्पादन 30 से 40 प्रतिशत तक बढ़ जाता है क्योंकि इसके माध्यम से संतुलित पोषक तत्वों को उपलब्ध कराया जाता है। इस पोषकता प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने किसानों को रियायती दर पर उर्वरक देने का निर्णय लिया है। पिछले अनेक दशकों से संतुलित खाद एवं उर्वरकों का उपयोग किसानों द्वारा नहीं किया जा रहा था जिस कारण पौधों की उपज, उत्पादकता एवं मृदा स्वास्थ्य प्रभावित ही रहे हैं। इसके सुधार में नैनों प्रौद्योगिकी एक महत्वपूर्ण विकल्प है। नैनो उर्वरकों पर शोध कार्य अन्तिम दिशा में अमेरिका, चीन और जर्मनी में किया जा रहा है जिसके उत्साहवर्धक परिणाम मिल रहे हैं। भारत में भी नैनो प्रौद्योगिकी का उपयोग उर्वरकों में सूक्षम पोषक तत्वों को मुख्यपोषक तत्वों के साथ मिला कर मिश्रण तैयार किया जा रहा है जिसका मुख्य आधार यूरिया है। फास्फोरस की उपयोगिता बढ़ाने हेतु जियोलाइट मिलाया जा रहा है। कार्बन नैनो ट्यूब का प्रयोग बीजों के अंकुरण में किया जा रहा है। नैनो सेंसर द्वारा मिट्टी की जाँच से पोषक तत्वों की कमी या अधिकता को ज्ञात किया जा सकता है। भविष्य में इस प्रौद्योगिकी का बहुतायत में उपयोग खाद्यान्न प्रबंधन एवं उर्वरक प्रयोग में किया जाएगा।

फल वृक्षों का पाला से बचाव

देवेन्द्र पाण्डेय[1] एवं अखिलेश कुमार[2]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

यदि हवा में उपस्थित जल वाष्प का तापमान शून्य डिग्री सें.ग्रे. से कम हो जाये और पृथ्वी पर उपस्थित पदार्थों का ताप भी कम हो जाये तो जल वाष्प संतृप्त होने से पहले ही बर्फ के कणों के रूप में जम जाता है। ये बर्फ के कण पृथ्वी पर बैठते जाते हैं। इसे पाला या तुषार कहते हैं।

पाला के प्रकार

पाला दो प्रकार का होता है- अभिवहनीय अथवा वायु जनित पाला एवं विकिरण जनित पाला।

अभिवहनीय अथवा वायु जनित पाला ऐसी दशा में पड़ता है जब किसी वायुराशि की धरातल से संलग्न परतों का तापमान शून्य डिग्री सेंटीग्रेड से नीचे गिर जाता है। यह स्थिति शीत काल में मेघरहित आकाश के कारण होती है जब वायुमण्डल की निचली परतों में तापमान व्युत्क्रमणता उत्पन्न हो जाती है। पाला के कारण ठंडे पदार्थों पर हिमकणों का निर्माण होता है। वायुराशीय पाला शीतोष्ण तथा शीतकटिबन्ध में प्रायः जाड़े के मौसम में पड़ता है। शीतकालीन गेहूँ की फसल पर इस पाला का हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के पाला से बसन्त ऋतु में विशेष क्षति होती है क्योंकि उस समय पौधों अथवा वृक्षों में फूल लगने शुरू हो जाते हैं। उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में वर्ष के किसी भाग में पाला पड़ने से फसलों का विनाश हो जाता है। वायुराशीय पाला से संतरे की फसल को भारी क्षति होती है। पाला से बचने के लिए किये जाने वाले अनेक उपाय हमेशा केवल बहुमूल्य फसलों के लिए किये जाते हैं। इसीलिए सामान्यतया बसन्त ऋतु में पाला का खतरा टल जाने के बाद ही इस प्रकार की फसलों को उत्पादित करने का कार्य आरम्भ करना चाहिए।

विकिरण जनित पाला से होने वाला नुकसान अपेक्षाकृत कम तथा यदा-कदा ही होता है। इस प्रकार के पाला से यद्यपि वृक्षों पर लगा फल नष्ट हो जाता है, किन्तु पौधों तथा वृक्षों को विशेष नुकसान नहीं होता है। आलू, टमाटर आदि कुछ विशेष फसलों को ऐसे पाला से बराबर खतरा बना रहता है। उत्तरी अमेरिका तथा साइबेरिया के उन बसंतकालीन क्षेत्रों में जहाँ गेहूँ की खेती की जाती है, पौधों के बीज बनने की स्थिति में भी ग्रीष्मकालीन पाला से काफी क्षति होती है। भारत के उत्तरी मैदानी भाग में शरदकालीन विकिरण जनित पाला से आलू, टमाटर तथा अरहर की फसलों को काफी नुकसान होता है।

पाला से सुरक्षा हेतु इसकी पूर्वसूचना अत्यावश्यक है जिससे कृषकों को उचित समय पर पाला से बचाव करने का अवसर मिल सके।

[1]प्रधान वैज्ञानिक एवं [2]शोध सहायक

पाला पड़ने की अनुकूल परिस्थितियाँः आसमान का साफ़ रहना, हवा का नहीं बहना, वायु में अधिक आर्द्रता का न होना तथा भूमि के निकट का तापमान शून्य डिग्री सें.ग्रे. या इससे कम हो जाना।

पाला का पौधों पर प्रभावः पाला पड़ते ही पौधों की कोशिकाओं का द्रव जमने लगता है जिससे आयतन बढ़ने के कारण कोशिकाओं की भित्ति फट जाती है और पौधा मर जाता है। जहाँ पर भूमि का तल ऊँचा-नीचा हो वहाँ पर ऊँची भूमि की तुलना में अपेक्षाकृत घाटी में पाला का असर अधिक होता है। घाटी की भूमि के सतह के तुरन्त ऊपर ही जो वायु की ठंडी परत होती है, भारी होने के कारण ऊपरी स्थानों से खिसक कर नीचे घाटी की सतह पर बैठती जाती है। घाटी से वायु निकास नहीं हो पाता है जिससे निचली भूमियों पर पाला का असर अधिक होता है।

बाग लगाने हेतु उपयुक्त स्थानः पर्वतीय प्रदेशों में फलों के बगीचे घाटी को छोड़कर उन ढलानों पर लगाये जाते हैं, जहाँ दिन के समय सूर्य की किरणें वायु के तापमान को अधिक कर देती हैं।

पाला से प्रभावित होने वाले पौधेः फल के बगीचों में केवल सदाबहार पौधों पर ही पाला का असर होता है। पाला पड़ने से आम, कटहल, नीबू, केला, लीची, आँवला, बेल, करौंदा, पपीता आदि के पौधों को विशेष नुकसान होता है। इन पौधों के कोमल और कमजोर भागों पर पाला का असर जल्दी होता है।

पाला से प्रभावित न होने वाले पौधेः पतझड़दार पौधों पर पाला का असर नहीं होता है क्योंकि इन पौधों की पत्तियाँ सर्दियों में झड़ जाती हैं और पेड़ सुषुप्तावस्था में होते हैं। सुषुप्तावस्था में इन पौधों में कोई वृद्धि नहीं होती और इनके रस का प्रवाह मंद रहता है इसलिए इन पर पाला का असर नहीं होता है। अंगूर, फालसा, शहतूत, अंजीर, नाशपाती, आड़ू और अलूचा फल वृक्षों पर पाला का असर नहीं होता है।

पाला से बचाव के उपाय

निम्नलिखित विधियों को अपनाकर पौधों को पाला के प्रकोप से बचाया जा सकता है।

फूस की टट्टियों से ढकना : बाग में नये लगाये गये पौधों को पाला से बचाने के लिए उन्हें फूस, पुआल, काँस *(सैकहरम स्पोनटेनियम)* आदि से ढ़क देते हैं। फूस की टट्टी के भीतर वातावरण गर्म रहने से पाला का असर नहीं होता है और पौधा सुरक्षित रहता है। छोटे पौधों को बिल्कुल सटाकर और पूरा नहीं ढ़कना चाहिए जैसा कि अक्सर बागवान फूस का शंकु बनाकर ऊपर से पौधे को ढ़क देते हैं। इस तरह ढ़कने से पौधों को प्रकाश एवं हवा नहीं मिल पाती है। इसके अलावा पौधों की बढ़ती हुई या अन्य टहनियाँ मुड़ जाती हैं जिससे पौधों का आकार-प्रकार बिगड़ जाता है और बाद में फसल पर भी विपरीत असर पड़ता है।

फूस के छप्पर से ढकनाः नये लगाये गये या छोटे फल वृक्षों के चारों ओर बाँस के फट्टे या अन्य सीधी लकड़ी के डंडे गाड़ देने चाहिए। यह डंडे पौधे की ऊँचाई से 25-30 से.मी. ऊँचे होने चाहिए। इन डंडों के सहारे पहले से बनाई हुई फूस, पुआल या कांस की टट्टियाँ या चटाइयाँ पौधों के ऊपर की ओर बाँध देना चाहिए। यह टट्टियाँ या चटाइयाँ

पौधों के फैलाव या ऊँचाई से 20 से.मी. दूर रहनी चाहिए। पौधा ऊपर तथा उत्तर और पश्चिम की दिशा से ढ़का रहना चाहिए तथा पूरब और दक्षिण दिशा में खुला रहना चाहिए। फूस की इस प्रकार छप्पर एवं टटिट्यों के प्रयोग से बाग के छोटे पौधों का आकार भी ठीक रहता है और हवा, रोशनी मिलने से पौधे भी स्वस्थ रहते हैं।

पॉलीथीन से ढकनाः फूस की टट्टियों के अलावा छोटे पौधे, विशेषकर एक या दो साल के, बड़े आकार के पॉलीथीन के थैलों या पॉलीथीन की चादर से भी ढ़क सकते हैं। इस तरह पौधे पाला से बच जाते हैं। पॉलीथीन के थैलों से ढ़कने पर पौधों को प्रकाश बराबर मिलता रहता है। लेकिन हवा के आवागमन के लिए थैलों में चारों ओर छेद करना आवश्यक होता है।

पलवार बिछानाः घास-फूस, स्थानीय घासें, फल वृक्षों की पत्तियाँ आदि इकट्ठी कर पेड़ के चारों ओर फैला देने से पाला का असर कम हो जाता है। स्ट्राबेरी में पलवार द्वारा पाला से बचाव के अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं।

बायोडायनमिक मिश्रण/गोबर का लेपः ताजे गोबर या बायोडायनमिक मिश्रण का पौधे के तने पर लेप करने से भी काफी हद तक पाला के नुकसान को कम किया जा सकता है।

ताड़ के पत्ते फैलानाः पपीते के पौधों के ऊपर ताड़ के पत्ते या फूस के टुकड़े फैला देने चाहिये। इस तरह पपीते के बड़े पौधों के पत्ते और शिखा की ओर के तने के कोमल हिस्से पाला से बचे रहते हैं।

टाट से ढकनाः पपीता के पौधों पर लगे फलों को टाट से चारों ओर से बाँध देना चाहिए। इस तरह पपीते के फल पाला से बच सकते हैं।

सिर्की से ढ़कनाः पौधशाला की क्यारियों में उगाये गये नये एवं कोमल पौधों को पाला से बचाने के लिए सिर्कियों से ढ़क देना चाहिए। जो पौधे प्रतिरोपित होते हैं उन्हें उनकी क्यारियों के ऊपर छप्पर बना कर ढ़क देना चाहिए। साथ ही मिट्टी भी तर (गीली) रहनी चाहिए जिससे पाला का असर कम हो सके।

रासायनिक तत्वों का छिड़कावः सल्फ्यूरिक अम्ल का 0.1 प्रतिशत सांद्रता का 2-3 छिड़काव पाला पड़ने वाले दिनों में करने से पौधों को नुकसान से बचाया जा सकता है।

पाला अवरोधी/सहनशील किस्मों को लगानाः पाला की रोकथाम की व्यावहारिक विधियों को अपनाकर इसके विपरीत प्रभाव को कम किया जा सकता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि पाला अवरोधी किस्मों का विकास किया जाये और पाला पड़ने वाले क्षेत्रों में पाला अवरोधी किस्मों जैसे पपीता की पंजाब स्वीट, केला की कुलान आदि की पैदावार की जाये।

सिंचाईः जाड़े के दिनों में पाला की संभावना को देखते हुये 10-12 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करते रहना चाहिए। जिससे बगीचों का तापमान बढ़ता तो है ही साथ में पौधों की ऊतकीय कोशिकाओं में भी पर्याप्त जल होने से तापमान का संतुलन बना रहता है।

धुँआ करनाः ग्रामीण क्षेत्रों में पुआल, धान की भूसी, गोबर, खरपतवार, सूखी पत्तियाँ, पुराने छप्परों का

फूस, कटाई-छँटाई से प्राप्त लकड़ियाँ, लकड़ी का बुरादा (आरा मशीन से) आदि पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। इनका प्रयोग बाग में धुँआ करने के लिए किया जा सकता है। जिस रात पाला पड़ने की सम्भावना नजर आये, शाम को बाग के बीच में उपरोक्त पदार्थ/सामग्री की ढ़ेरियों को लगा देना चाहिए। धुँआ करने के लिए ढ़ेरियों को लगभग आधी रात को सुलगाना चाहिए और ध्यान रखें कि ढेर से लपटें न उठे केवल धुँआ निकले। इससे आस-पड़ोस के वायुमंडल का तापमान बढ़ जाता है और पाला से नुकसान नहीं होता है।

सस्ते ईंधन को जलाकर (सुलगाकर) फसलों के ऊपर धुँए की एक मोटी परत फैला देने से पाला से बचाव हो जाता है। धुँए की इस मोटी चादर के कारण विकिरण के द्वारा होने वाले शीतलन को रोका या कम किया जा सकता है जिससे वायु का तापमान हिमांक से ऊपर बना रहता है। ऐसी दशा में पाला पड़ने की सम्भावना नहीं होती है।

विकसित देशों में बड़े-बड़े हीटरों और विशालकाय पंखों से हवा के द्वारा मूल्यवान फसलों की पाला से रक्षा की जाती है। कहीं-कहीं फसलों के ऊपर हवा में हलचल पैदा करने के लिए हवाई जहाजों तथा हेलीकाप्टरों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु यह एक अत्यन्त खर्चीला उपाय है। वायुमण्डल में पवन प्रवाह होने से तापमान व्युत्क्रमणता का स्तर नहीं बनने पाता जिससे पाला पड़ने का खतरा दूर हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे समृद्ध देश के कैलीफोर्निया, फ्लोरिडा आदि राज्यों में संतरे के बगीचों में सर्वत्र हीटर तथा पंखों की व्यवस्था रहती है जिससे फलों को पाला से बचाया जा सके।

नर्सरी/पौध तैयार करनाः नर्सरी या पौधों को पॉली हाउस या बड़े पेड़ों/वृक्षों के नीचे तैयार करना चाहिए। पाला द्वारा नुकसान तापमान अथवा अवधि पर ही नहीं निर्भर करता बल्कि पौधे की अवस्था पर भी निर्भर करता है।

हरा भरा रहता मदिरालय, जग पर पड़ जाए पाला,
वहाँ मुहर्रम का तम छाए, यहाँ होलिका की ज्वाला।
स्वर्ग लोक से सीधी उतरी वसुधा पर, दुख क्या जाने,
पढ़े मर्सिया दुनिया सारी, ईद मनाती मधुशाला।
-हरिवंश राय 'बच्चन'

आम के बागों का कैनोपी प्रबंधन एवं जीर्णोद्धार

दुष्यंत मिश्र[1]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

आम अपनी विशिष्टता और विविध गुणवत्ता के कारण जन साधारण का एक लोकप्रिय फल है। इसे फलों के राजा की भी संज्ञा दी जाती है। भारत में आम की लगभग 40 व्यावसायिक किस्में हैं जिनमें दशहरी, लंगड़ा, चौसा, अलफांसो, बैंगनपल्ली, नीलम, तोतापुरी, केसर, फजरी, हिमसागर आदि प्रमुख हैं। विश्व के सभी आम उत्पादन करने वाले देशों में भारत का अग्रणी स्थान है। भारत में आम का उत्पादन 2.296 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में किया जाता है जिससे प्रतिवर्ष 6.6 टन प्रति हेक्टेयर उत्पादकता के साथ 15.188 मिलियन टन उत्पादन की प्राप्ति होती है। भारत में आम की औसत उत्पादकता विश्व के अन्य देशों की तुलना में काफी कम है। अतः लाभप्रद आम व्यवसाय के लिये गुणवत्ता युक्त उत्पादकता में प्रति इकाई वृद्धि लाना एक चुनौती है। देश में आम की उत्पादकता कम होने के अनेक कारण हैं जिनमें 35-40 प्रतिशत बागों का अनुत्पादक होना तथा वृक्षों के घनेपन के कारण उनमें सूर्य के प्रकाश की अनुपलब्धता प्रमुख है। ऐसे बागों में वैज्ञानिक तरीकों से कटाई-छँटाई कर वृक्षों के ढाँचों में वाँछित परिवर्तन लाकर सूर्य के प्रकाश की उपलब्धता बढ़ायी जा सकती है जिससे प्रकाश संश्लेषण की क्रिया अधिक हो जाती है। फलस्वरूप वृक्षों की पुष्पन एवं फलन क्षमता बढ़ जाती है। वृक्षों की आयु और उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए वृक्षों में कैनोपी प्रबंधन एवं जीर्णोद्धार की संस्तुति की जाती है।

मध्यम आयु वर्ग के बागों में कैनोपी प्रबंधन

मध्यम आयु वर्ग के बागों में कैनोपी प्रबंधन का उद्देश्य वृक्ष की ऊँचाई को कम करना, सूर्य के प्रकाश की उपलब्धता बढ़ाना तथा गुणवत्ता वाले फलों की उत्पादकता में भी वृद्धि लाना है।

इस कार्य के लिये चयनित वृक्षों का निरीक्षण करते समय यह ध्यान रखना होता है कि वृक्ष में कौन सी शाखा वृक्ष की कैनोपी के मध्य में स्थित और सबसे ऊँची है। सामान्यतया वह एक ही शाखा होती है जो कि सबसे ऊँची होती है और कैनोपी के मध्य में स्थित होती है। इस शाखा को चिह्नित कर दिसम्बर माह में उसकी उत्पत्ति के स्थान से काट कर हटा देना चाहिए। इस कार्य हेतु शक्तिचालित आरी का उपयोग उचित रहता है। ऐसी आरी से काटी गयी सतह समतल एवं साफ रहती है। कटाई करते समय कट थोड़ा तिरछा रहना चाहिए ताकि बरसात का पानी वहाँ एकत्र न हो सके।

ऐसा करने से वृक्ष की ऊँचाई में 15-20 प्रतिशत की कमी आती है, कैनोपी में सूर्य के प्रकाश की उपलब्धता बढ़ती है तथा अधिक फलत के साथ बड़े आकार के गुणवत्तायुक्त फलों का प्रतिशत भी

[1]वैज्ञानिक (व.वे.)

बढ़ जाता है। सेन्टर ओपनिंग का असर आगामी 4-5 वर्ष तक रहता है। उसके बाद पुनः आवश्यकतानुसार किसी अन्य शाखा को इसी प्रकार से हटाया जा सकता है।

लखनऊ की आम फल पट्टी क्षेत्र 'माल' के अऊमऊ एवं सुल्तानपुर गाँवों में लगभग 5000 वृक्षों में यह कार्य सफलतापूर्वक किया गया एवं क्षेत्र के बागवानों ने इसे लाभप्रद भी पाया। राज्य बागवानी मिशन, उत्तर प्रदेश सरकार के नवीनतम आँकड़ों के अनुसार उत्तर प्रदेश के आम उत्पादक क्षेत्रों में 10,000 हेक्टेयर में बागवानों ने अपने बागों में जीर्णोद्धार एवं सेन्टर ओपनिंग करवाया है।

पुराने एवं अनुत्पादक बागों का जीर्णोद्धार

ऐसा देखा गया है कि 45 से 50 वर्ष बाद आम के वृक्षों का फैलाव/ऊँचाई काफी बढ़ जाती है और वृक्षों की शाखायें बढ़कर दूसरे पेडों को छूने लगती हैं जिससे सूर्य का प्रकाश वृक्षों के पर्णीय भागों में पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाता है। सूर्य प्रकाश के अभाव में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया क्षीण हो जाती है जिसके फलस्वरूप कल्ले (प्ररोह) पतले और अस्वस्थ हो जाते हैं जो पुष्पन एवं फलन हेतु अनुपयोगी होते हैं। यही नहीं, ऐसे बागों में कीट एवं व्याधियों का प्रकोप भी बढ़ जाता है जिनका नियंत्रण कठिन हो जाता है और बाग उत्पादन की दृष्टि से अनुपयुक्त हो जाते हैं।

पुराने एवं अनुत्पादक बागों को समूल निकाल कर नये बाग स्थापित करना दीर्घकालीन एवं खर्चीला विकल्प होता है। केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ के द्वारा विकसित जीर्णोद्धार तकनीक अपनाकर आम के पुराने बागों को पुनर्यौवन प्रदान किया जा सकता है और गुणवत्तायुक्त उत्पादकता में वृद्धि लायी जा सकती है। जीर्णोद्धार तकनीक के चरण निम्नवत हैं।

कटाई-छँटाई

पुराने, घने एवं आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक वृक्षों की सभी अवाँछित शाखाओं को पहले चिह्नित कर लेते हैं। फिर दिसम्बर माह में चिह्नित शाखाओं को भूमि सतह से लगभग 2.5 से 3 मीटर की ऊँचाई पर शक्ति चालित आरी से कटाई करते हैं। सूखी, रोग ग्रसित एवं पेड़ों के बीच की घनी शाखाओं को काटकर निकाल देते हैं। पर्णीय क्षेत्र के विकास के लिये सभी दिशाओं में उद्गमित पेड़ पर मात्र 3 से 4 कृन्तित शाखायें ही रखते हैं। कृन्तन करते समय सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि शाखायें निचले भाग से फटने न पायें। अतः पहले शाखा को आरी से नीचे की तरफ से लगभग 15-20 से.मी. कटाई करते हैं, फिर ऊपरी भाग से कृन्तन करते हैं। इसके बाद फरवरी के मध्य में वृक्षों

घने, पुराने एवं अनुत्पादक वृक्षों का बाग

कटाई के उपरान्त बाग

बाग में आलू की अन्तःफसल

जीर्णोद्धारित बाग में नयी कैनोपी का विकास

बाग में मूँग की अन्तःफसल

के तनों के पास थाले एवं सिंचाई की नालियाँ अवश्य बना देनी चाहिए। कटाई के बाद प्रारम्भिक दो वर्षों तक बाग में फल नहीं आते हैं, जिसकी क्षतिपूर्ति बाग में अन्तःफसलें लेकर तथा आम की लकड़ी बेचकर हो जाती है।

नवसृजित कल्लों का विरलीकरण

सृजित कल्लों का विरलीकरणः दिसंबर महीने में किये गये कृन्तन के लगभग तीन-चार माह बाद (मार्च-अप्रैल) इन छोडी गयी शाखाओं पर बाहुल्यता में नये कल्ले निकलते हैं जिनका वाँछित विरलीकरण आवश्यक है। स्वस्थ कल्लों युक्त खुले पर्णीय क्षेत्र के विकास के लिए शाखाओं के बाहरी ओर 8-10 स्वस्थ कल्ले प्रति शाख रखकर शेष अवाँछित कल्लों को जून एवं अगस्त में हटा दिया जाता है। वृक्ष जब फलन में आ जाते हैं तो उसके बाद भी घनापन दूर करने के लिए दूसरे एवं तीसरे वर्षों में वृक्ष के मध्य भाग में स्थित शाखाओं का विरलीकरण इस तरह करना चाहिए कि नयी शाखायें सभी दिशाओं में

बढ़कर वृक्षों को एक स्वस्थ एवं उत्पादक कैनोपी प्रदान करें।

अन्तःफसलें: कटाई-छँटाई के बाद कृन्तित वृक्षों के चारों तरफ काफी खुली जगह मिल जाती है, जिसमें अन्तःफसलें लेकर अतिरिक्त आमदनी अर्जित की जा सकती है। जायद में तरोई, लौकी, खीरा, लोबिया और रबी के मौसम में फूलगोभी, आलू, पातगोभी, गेंदा इत्यादि फसलें प्रारम्भिक पाँच वर्ष तक लेना लाभदायक पाया गया है।

पोषण एवं जल प्रबन्धनः कटाई के बाद प्रति वृक्ष 1.25 कि.ग्रा. यूरिया, 3.00 कि.ग्रा. सिंगल सुपर फास्फेट एवं 1.5 कि.ग्रा. म्यूरेट ऑफ पोटाश फरवरी के अन्त में थालों में डालते हैं। यूरिया की शेष मात्रा (1.25 कि.ग्रा.) जून माह के अन्त में देते हैं। इसके अतिरिक्त जुलाई के प्रथम सप्ताह में 50 कि.ग्रा. सड़ी गोबर की खाद प्रति वृक्ष डालना लाभदायक होता है। उर्वरक डालने के पूर्व थालों की अच्छी प्रकार से निराई-गुड़ाई अवश्य करनी चाहिए। वृक्षों की सिंचाई मार्च के मध्य से मानसून आने तक 10-12 दिन के अन्तराल पर करनी चाहिये जिससे शाखाओं की वृद्धि अच्छी हो सके और नव-सृजित कल्ले नमी के अभाव में सूखने न पायें। अप्रैल से जून माह तक नमी को संचित रखने के लए आम या केले की पत्ती, सूखी घास अथवा पुवाल थालों में बिछाना (मल्चिंग) चाहिए। फलन में आ जाने पर बाग का प्रबंधन एक सामान्य बाग की तरह से किया जाता है।

पुष्पन एवं फलनः कटाई-छँटाई के उपरांत वृक्षों की सघन एवं सामयिक देखभाल करने से कृन्तित शाखाओं पर सृजित कल्ले लगभग दो वर्ष उपरान्त

फरवरी माह में खाद एवं उर्वरक का प्रयोग

पुष्पन एवं फलन में आने लगते हैं। प्रयोगों के आधार पर पाया गया है कि जीर्णोद्धरित वृक्षों से गुणवत्तायुक्त आम की औसतन 80-100 कि.ग्रा. प्रति वृक्ष उपज प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीर्णोद्धार विधि द्वारा पुराने एवं अनुत्पादक आम के बाग 20-25 वर्ष के लिये पुनः लाभदायक हो जाते हैं।

शिखारोपण (टॉप वर्किंग): शिखा रोपण तकनीक द्वारा पुरानी प्रजातियों एवं बीजू उत्पत्ति के अनुत्पादक वृक्षों को नवीनतम एवं उन्नत किस्मों के समावेश द्वारा पुनः उत्पादक बनाया जा सकता है। इस कार्य हेतु चयनित वृक्षों में गहरी कटाई एवं कल्लों के विरलीकरण का कार्य उसी प्रकार से करते हैं जैसे

नये कल्लों पर शिखारोपण

कि पुराने वृक्षों के जीर्णोद्धार हेतु करते हैं।

कटाई के उपरान्त निकले नये कल्लों में जुलाई-अगस्त माह में किस्म की सांकुर शाख को प्रत्यारोपित कर शिखारोपण करते हैं। वेज ग्राफ्टिंग या वीनियर ग्राफ्टिंग विधि द्वारा एक वृक्ष में 25-30 सृजित कल्लों पर शिखारोपण करना उचित रहता है। इसके बाद वृक्षों का सामयिक प्रबंधन करना चाहिए।

कीट और व्याधि प्रबंधनः जीर्णोद्धार प्रक्रिया के दौरान देखा गया है कि बाग की समुचित देखभाल के अभाव में कृन्तित वृक्ष कभी-कभी तनाभेदक कीट से ग्रसित हो जाता है। इस कीट के प्रबंधन हेतु कीट द्वारा बनाए सुराख में लोहे की पतली तीली डालकर कीट के लार्वा को बाहर निकाल कर नष्ट कर देते हैं और कीटनाशी दवा डाइक्लोरवास (DDVP) में भीगी रूई के फाहे को छेद में रखकर, छेद को गीली मिट्टी से बंद कर देते हैं जिससे कि दवा की गैस से कीट के लार्वा आदि मर जायें। यदि कीट का उचित और सामयिक नियंत्रण न किया गया तो वृक्ष सूख भी सकते हैं। अतः सुझाव दिया जाता है कि बागवान विशेषकर इस कीट के प्रति अवश्य सजग रहें और कम-से-कम दो वर्ष तक कृन्तित वृक्षों का सामयिक और सघन प्रबंधन करें, अन्यथा लाभ की जगह नुकसान हो सकता है। सृजित कल्लों की पत्ती खाने वाला कीट मानसून में अधिक क्षति पहुँचा सकता है। कीटनाशी दवा कार्बरिल (दो ग्राम प्रति लीटर) पानी में घोलकर 12-15 दिन के अंतराल पर दो छिड़काव कर इस कीट का नियंत्रण किया जा सकता है। पर्णीय धब्बों की रोकथाम के लिए कॉपर ऑक्सीक्लोराइड या कॉपर हाइड्राक्साइड (3 ग्राम प्रति लीटर पानी) का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

तना भेदक कीट

तना भेदक कीट से ग्रसित वृक्ष

अनेक बार बागवानों का तर्क होता है कि पुराने एवं अनुत्पादक वृक्षों का जीर्णोद्धार क्यों करें ? वो ऐसे वृक्षों को समूल हटा कर नया रोपण करने के पक्ष में रहते है। संस्थान ने दोनों ही प्रकार के बागों का अध्ययन किया जिसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है।

पुराने बागों का जीर्णोद्धार	नये बागों का रोपण
1. कम लागत आती है।	1. अधिक लागत आती है।
2. जीर्णोद्धरित बाग तीसरे वर्ष से फलन में आ जाते हैं तथा पाँचवे वर्ष से व्यावसायिक उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है।	2. नवरोपित बाग चौथे-पाँचवे वर्ष से फलन में आते हैं तथा दसवें वर्ष से व्यावसायिक उत्पादन प्रारम्भ होता है।
3. इन बागों को नीलगाय एवं अन्य पशुओं से नुकसान नहीं होता है।	3. नवरोपित बागों को नीलगाय एवं पालतू पशुओं से अधिक नुकसान होता है।
4. पुराने वृक्षों का मूलवृन्त एवं जड़ तंत्र काफी मजबूत एवं विस्तृत होता है जिसके कारण सिंचाई जल की कम उपलब्धता होने पर भी वृक्षों की मृत्युदर नहीं बढ़ती है।	4. नवरोपित पौधों का जड़ तंत्र विस्तृत नहीं होता है जिसके कारण सिंचाई जल की कम उपलब्धता पर पौधों की मृत्युदर अत्यधिक बढ़ जाती है।

हरा-भरा रहता मदिरालय,
जग पर पड़ जाए पाला,
वहाँ मुहर्रम का तम छाए,
यहाँ होलिका की ज्वाला;
स्वर्ग लोक से सीधी उतरी
वसुधा पर, दुख क्या जाने;
पढ़े मर्सिया दुनिया सारी
ईद मनाती मधुशाला
-हरिवंश राय 'बच्चन'

टिशू कल्चर केला की उत्तर प्रदेश में व्यावसायिक खेती

राम कुमार[1]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

भारत में केला की खेती आदिकाल से की जा रही है। केला का धार्मिक कार्यों में एवं व्यावसायिक स्तर पर बहुत महत्व है। इसके पौधे का पूरा भाग किसी-न-किसी तरह से उपयोग में लाया जाता है। इसका फल स्वादिष्ट, पौष्टिक, पाचक, सस्ता एवं काफी लोकप्रिय है। इसके फलों में शकर्रा एवं खनिज लवण जैसे फास्फोरस तथा कैल्सियम प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। फल का उपयोग खाने एवं सब्जी बनाने के अलावा आटा, चिप्स आदि बनाने में किया जाता है। पहले केला की खेती भारत के उष्ण एवं उपोष्ण क्षेत्रों में ही की जाती थी लेकिन अल्प अवधि में केला की खेती से अधिक आय प्राप्त होने के कारण इसकी खेती उत्तर प्रदेश के अनेक पूर्वी जिलों में तेजी से बढ़ रही है।

भूमि एवं जलवायु

केला की खेती लगभग सभी प्रकार की भूमि में की जा सकती है लेकिन एलुवियल भूमि जिसमें जल निकास की समुचित व्यवस्था हो केला की खेती के लिए अधिक उपयुक्त होती है। भूमि का पी.एच. मान 6 से 7.5 तक उचित पाया गया है। लेकिन 8.5 पी.एच. मान तक इसकी खेती की जा सकती है।

खेती

उत्तरी भारत में ग्रान्ड नेन किस्म व्यावसायिक खेती के लिए उत्तम पायी गयी है।

पौध लगाने का समयः उत्तर भारत में केला की पैदावार, गुणवत्ता तथा एक फसल में लगने वाला समय पौधा लगाने के समय एवं पौध सामग्री पर निर्भर करता है। यदि उचित आकार के टिशू कल्चर के पौधे फरवरी महीने में लगाते हैं तो नवम्बर-दिसम्बर तक फल तैयार होने की सम्भावना रहती है। मई में पौधा लगाने पर फरवरी से अप्रैल तक फल तैयार होते हैं। जुलाई में पौधा लगाने पर फल सितम्बर-अक्टूबर में तैयार होते हैं। एक समय में बहुत बड़े क्षेत्र में पौध रोपण से कीमत गिरने की सम्भावना रहती है। इसलिए अलग-अलग समय में पौध रोपण करना चाहिए।

गड्ढों की खुदाई एवं भराईः पहले खेत को समतल कर लें। फिर 4-5 गहरी जुताई के बाद पाटा लगाकर कतार-से-कतार एवं पौधे-से-पौधे की दूरी वर्गाकार रीति से 1.8 x 1.5 मी. या 1.8 x 3.6 मी. (तीन पुत्ती प्रति गड्ढा) की दूरी पर निशान लगाकर प्रत्येक निशान पर 40 x 40 x 40 से.मी. आकार के गड्ढा खोद लेना चाहिए। तत्पश्चात

[1]प्रधान वैज्ञानिक

प्रत्येक गड्ढा में 15-20 किलोग्राम गोबर की खाद, 50 ग्राम फालीडाल डस्ट, 10-15 ग्राम कार्बोफ्यूरॉन, 50 ग्राम फास्फोरस तथा ऊपर की मिट्टी मिलाकर भर दें। 1.8 x 1.5 मी. की दूरी पर 3703 पौधे तथा 1.8 x 3.6 मी. (तीन पुत्ती प्रति गड्ढा) की दूरी पर 4500 पौधे प्रति हेक्टेयर लगते हैं।

पोषणः केला भूमि से बहुत अधिक पोषक तत्व खींचता है जिसके लिए भूमि की उर्वरता के अनुसार प्रति पौधा 350-400 ग्राम नाइट्रोजन, 100 ग्राम फास्फोरस तथा 350-400 ग्राम पोटाश की आवश्यकता होती है। यदि केला के पेड़ की रोपाई जुलाई में की गयी हो तो फास्फोरस की आधी मात्रा रोपाई से पूर्व, 1/4 मात्रा अक्टूबर में एवं शेष 1/4 मात्रा मार्च में दें। नाइट्रोजन को 4-5 बराबर भागों में बाँट लें तथा पहली मात्रा पौध रोपण के 30-40 दिन बाद देना चाहिए एवं अन्य शेष मात्रा प्रत्येक दूसरे महीने देते रहना चाहिए। लेकिन अधिक ठंडक वाले दिनों में उर्वरक नहीं देना चाहिए। पोटाश को भी 4 भागों में बाँटकर दो भाग पौधे की वृद्धि के लिए, अगस्त तथा अक्टूबर में तथा दो भाग फलों की गुणवत्ता में वृद्धि के लिए अप्रैल एवं जुलाई में डालें। दिसम्बर-जनवरी में खाद नहीं डालनी चाहिए।

घौंद तथा फलों की वृद्धि के लिए 2 प्रतिशत पोटैशियम सल्फेट (20 ग्राम प्रति लीटर) का दो बार, पहला फूल तोड़ने के समय तथा दूसरा एक महीने के बाद छिड़काव करना चाहिए।

सूक्ष्म तत्वों का प्रयोगः गुणवत्तायुक्त एवं अच्छी पैदावार लेने के लिए केले में सूक्ष्म तत्वों का प्रयोग करना भी आवश्यक है। सूक्ष्म तत्व जैसे जिंक, लोहा और बोरान की भूमि में अधिकतर कमी पायी जाती है। इसके लिए राष्ट्रीय केला अनुसंधान केन्द्र, तिरुचिरापल्ली द्वारा विकसित बनाना शक्ति का 10 ग्राम प्रति पौधा प्रयोग करना चाहिए अथवा जिंक की पूर्ति हेतु 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट तथा बोरान की पूर्ति हेतु 0.1 प्रतिशत बोरेक्स का छिड़काव करना चाहिए।

निराई-गुड़ाईः खेत में फसल की ठीक से वृद्धि एवं अच्छी उपज हेतु खेत को खरपतवारों से मुक्त रखना आवश्यक है। निराई-गुड़ाई यांत्रिक या रासायनिक विधि से भी कर सकते हैं। कठोर पत्ती वाले खरपतवारों के लिए 8 मि.ली. खरपतवारनाशी वा मुलायम पत्ती वाले खरपतवारों के लिए 6 मी.ली. प्रति लीटर के हिसाब से खरपतवारनाशी का छिड़काव दो बार करना चाहिए।

सिंचाईः पौधों की वृद्धि हेतु खेत में बराबर नमी का होना आवश्यक है, किन्तु जल भराव नहीं होना चाहिए। केले के बाग में गर्मियों में 7-10 दिन पर तथा शीतकाल में 12-15 दिन पर सिंचाई करते हैं। फलों की वृद्धि के समय नमी बनाये रखना आवश्यक है अन्यथा फलों की वृद्धि पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। पौधौं के चारों तरफ पलवार करने से लगभग 40 प्रतिशत तक सिंचाई की मात्रा बचायी जा सकती है।

पुत्ती निकालनाः पौधों के अगल-बगल से निकलने वाली पुत्तियों को काटते रहना चाहिए। जब लगभग 50 प्रतिशत पौधौं में फूल आ जायें तब एक पुत्ती सभी पौधौं में छोड़ देना चाहिए। यदि 50 प्रतिशत फूल नवम्बर-जनवरी में आयें तो पुत्तियों को जाड़े के बाद फरवरी में छोड़ना चाहिए।

नर फूल के गुच्छे काटना: घौंद के निचले भाग पर लटकते नर फूल के गुच्छे को काट देना चाहिए। नर फूल के गुच्छे को मादा फूल से 6 इंच छोड़ कर काटना चाहिए।

पौधों को सहारा देना: बरसात से पहले एक पंक्ति के सभी पौधों पर दोनों तरफ से मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए तथा घार निकालते समय बॉस/लकड़ी की कैंची बनाकर पौधों को दो तरफ से सहारा देना चाहिए।

फलों का ठंड से बचाव: ठंडक के दौरान आने वाले फलों को कम तापमान के कारण होने वाली क्षति से बचाव हेतु घौंद को अधिक ठंडक वाले दिनों में 100 गेज वाली पॉलीथीन से ढक देना चाहिए। इस में 6 प्रतिशत तक छिद्र कर देना चाहिए जिससे हवा का आवागमन होता रहे।

घौंद की कटाई: फूल निकलने से लगभग 25-30 दिन में पूरी फलियाँ निकल आती हैं। पूरी फलियाँ निकलने के बाद लगभग 100 से 140 दिन में फल तैयार हो जाते हैं। जब फलियों की चारों धारियाँ तिकोनी न रहकर गोलाई लेकर पीली होने लगें तब घौंद को काट देना चाहिए।

फसल सुरक्षा

उत्तर प्रदेश में मुख्यतः निम्नलिखित रोग एवं कीटों का प्रकोप पाया गया है।

पत्ती धब्बा या पर्णचित्ती (सीगाटोका) रोग: यह रोग इस क्षेत्र में अधिकतर वर्षा के बाद अक्टूबर से शुरू होता है। शुरू में पत्तियों पर हल्के पीले या हरी पीली धारियों के रूप में धब्बे बनते हैं तथा बाद में बड़े होकर आपस में मिल जाते हैं जिसके कारण सम्पूर्ण पत्ती झुलस कर लटक जाती है। इसकी रोकथाम हेतु ड्रिप सिंचाई विधि को अपनाये क्योंकि अधिक आर्द्रता एवं कम तापमान से यह रोग अधिक फैलता है। पौधों के रोग ग्रस्त पत्तियों को काट कर जला देना चाहिए। फफूँदनाशक दवा जैसे प्रोपीक्नोजोल 0.1 प्रतिशत को धानुकाप या अन्य किसी चिपकने वाले पदार्थ के साथ मिलाकर 3-4 बार 2-3 सप्ताह के अन्तराल से छिड़काव करना चाहिए। अन्य फफूँदनाशक दवायें जैसे 0.1 प्रतिशत कार्बेन्डाजिम का 3-4 बार छिड़काव करने से नियंत्रण किया जा सकता है।

शीर्ष गुच्छा (बंची टाप): यह रोग एक विषाणु के कारण होता है। इस रोग से प्रभावित पौधों के शीर्ष पर पत्तियों का गुच्छा बन जाता है तथा पौधे बौने रह जाते हैं। इससे बचाव हेतु संक्रमित पौधों को निकाल कर नष्ट कर देना चाहिए।

फल विगलन (एन्थ्रेकनोज): इस वर्ष यह बीमारी इस क्षेत्र में काफी पायी गयी। इसके कारण फलों पर काले दाग पड़ जाते हैं। फलों का निचला हिस्सा सड़ने लगता है। इसके नियंत्रण हेतु 0.1 प्रतिशत कार्बेन्डाजिम का 3-4 बार छिड़काव करना चाहिए।

केला का घुन/तना भेदक (बनाना वीवल): यह कीट काफी नुकसानदायक है। इसका अधिकतर प्रकोप 5-6 माह पुराने पौधों पर होता है। यह तने पर छोटे-छोटे काले छेद बनाता है जिनसे गोंद निकलता है और धीरे-धीरे पौधे टूट कर गिरने लगते हैं। प्रारम्भ में इसके छेद दिखायी नहीं देते लेकिन पौधों की पत्तियाँ ऊपर से धीरे-धीरे पीली होना शुरू होने लगती हैं। इसका प्रकोप काफी तेजी

से फैलता है। इसके नियंत्रण के लिए प्रभावित सूखी पत्तियों एवं पौधों को नष्ट कर देना चाहिए। प्रभावित पौधे को काट कर कीड़े को निकाल कर मार दें फिर पौधे के एक-एक फुट के टुकड़े काट कर उसको बीच से फाड़ कर बीच वाले भाग को नीचे की तरफ कर के केला के बाग में जगह-जगह रख दें। केला की गन्ध से इसके प्यूपे आकर्षित होकर इन टुकड़ों में आ जाते हैं। इन टुकड़ों को दूसरे दिन एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए। यदि प्रकोप अधिक हो गया हो तो 350 मि.ली. मोनोक्रोटोफास में 150 मि.ली. पानी मिलाकर घोल बना लें फिर इस घोल में से 2 मि.ली. घोल को जमीन से 2 फुट की ऊँचाई पर सूई से पौधे में लगायें तथा 2 मि.ली. घोल को जमीन से 4 फुट की ऊँचाई पर सूई से पौधे में लगायें, लेकिन सुई पौधे के 2-3 पत्ती तक ही अन्दर जाये अन्यथा पौधे को नुकसान पहुँचता है।

भृंगु बीटल (बानाना स्क्रविंग बीटल): इसका प्रकोप अधिकतर सितम्बर-अक्टूबर में अधिक होता है लेकिन अप्रैल-मई में भी इसका प्रकोप पाया गया है। यह भूरे लाल रंग के कीट होते हैं। यह मुलायम फलियों एवं पत्तियों को खाते हैं जिससे उन पर खरोंच के निशान बन जाते हैं। बाजार में इनका मूल्य काफी कम मिलता है। इसके नियंत्रण हेतु 1.5 मि.ली. प्रति ली. एसीफेट या लेमब्डासाइक्लोथरीन का छिड़काव करना चाहिए।

पत्ती खाने वाला कैटरपिलर *(स्पोडेप्टरा लिटूरा)*: यह अन्दर से बिना खुली पत्तियों को खाता है, जिससे पत्ती के खुलने पर उसमें छेद दिखायी देते हैं। इसके नियन्त्रण हेतु 1.5 मि.ली. प्रति ली. कार्बोसल्फान या एसीफेट या लेमब्डासाइक्लोथरीन का छिड़काव करना चाहिए। यह शाम के समय ज्यादा सक्रिय होता है इसलिए इसके नियन्त्रण हेतु शाम को कीटनाशाक का छिड़काव करना चाहिए।

आँवला की वैज्ञानिक खेती एवं औषधीय उपयोग

अजय कुमार त्रिवेदी[1], सुरेश कुमार वर्मा[2], गणेश लाल[3] एवं रतन राम आर्या[4]
राष्ट्रीय पादप आनुवांशिक संसाधन ब्यूरो, क्षेत्रीय केन्द्र, भवाली

भोजन में फलों का विशेष महत्व होता है। फलों में विभिन्न प्रकार के खनिज तत्व, लवण, विटामिन एवं प्रतिऑक्सीकारक पाये जाते हैं जो स्वास्थ्यवर्धक एवं पौष्टिक होते हैं। फलों में पाये जाने वाले विभिन्न तत्व, यौगिक, विटामिन एवं प्रतिऑक्सीकारक विभिन्न रोगों के उपचार में भी काम आते हैं। फल की खेती करने की वैज्ञानिक विधि की जानकारी होने पर कम संसाधनों का भी उचित उपयोग कर इनका उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

आँवला (इण्डियन गूजबेरी) को आमली, ओलाकि, अमात्री, अम्बाला, आमलकामू आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। उत्तराखण्ड के कुछ क्षेत्रों में इसे अंगाल नाम से भी जाना जाता है। यह यूफोरबिएसी परिवार का पौधा है जिसका वैज्ञानिक नाम *इम्बलिका ओफिसिनेलिस* है। यह एक मध्यम आकार वाला पौधा है जिसके पत्ते सामान्यतया हरे रंग के होते हैं और संरचना पंखों के समान होती है। आँवले का फूल बसन्त ऋतु के आरम्भ में खिलना शुरू होता है। इसके फल में विटामिन सी प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। आँवले की विभिन्न प्रकार की जलवायु में सफलतापूर्वक पैदावार की जा सकती है।

भूमि एवं जलवायु प्रर्वधन तकनीक

आँवला की खेती के लिए जमीन को अच्छे तरह से जोतकर बराबर कर लेना चाहिए। आँवला के दो पौधों के बीच की दूरी उर्वर भूमि में 10 x 10 मी. से 12 x 12 मी. तथा कम उर्वर भूमि में 8 x 8 मी. रखी जाती है। आँवले के पौध रोपण के लिए मई-जून माह में 1 घन मीटर (लम्बाई x चौड़ाई x ऊँचाई) के गड्ढे खोदे जाने चाहिए। गड्ढे खोदने के पश्चात उन्हें 15-20 दिन के लिए धूप में खुला छोड़ दिया जाता है। दो सप्ताह के बाद प्रत्येक गड्ढे को 25-30 कि.ग्रा. गोबर की खाद एवं गड्ढे की ऊपरी मिट्टी से ढ़क दिया जाता है। स्वस्थ पौधों को वर्षा ऋतु में रोपा जाता है। नये लगाये गये पौधों की सिंचाई 15 दिन के अन्तराल पर की जाती है। यह तब तक आवश्यक है जब तक कि पौधे अच्छी प्रकार से स्थापित न हो जायें। वयस्क पौधों में अप्रैल से जून माह तक सप्ताह में एक बार सिंचाई की जाती है। मृदा में नमी कम होने की स्थिति में आवश्यकतानुसार सिंचाई करनी चाहिए। अक्टूबर से मार्च तक प्रत्येक दो से तीन सप्ताह के अन्तराल पर सिंचाई की आवश्यकता होती है।

[1]वरिष्ठ वैज्ञानिक, [2]प्रधान वैज्ञानिक, [3]वरिष्ठ शोधकर्ता एवं [4]तकनीकी अधिकारी

कटाई-छँटाई

आँवला की शाखाएँ बहुत अधिक मात्रा में फलों से लदी होती हैं। इसके पेड़ की लकड़ियाँ भंगुर प्रवृत्ति की होती है जिसके कारण वे अधिक भार नहीं सहन कर पातीं और टूट जाती हैं। पौधों को सही आकार देने के लिए कटाई-छँटाई आवश्यक है। पेड़ का मुख्य तना जब जमीन से 0.75-1.00 मीटर की ऊँचाई का हो जाये तब उससे शाखाएँ निकलने देनी चाहिए। पौधों की शाखाओं को सीढ़ीनुमा ढाँचा देना चाहिए। पौधों में 4-6 अच्छी शाखाएँ होनी चाहिए जिनमें आपस की दूरी अच्छी हो ताकि उनमें वृद्धि अच्छी हो सके। पौंधो में प्रत्येक वर्ष फल तोड़ने के उपरांत छँटाई करनी चाहिए। सूखी, रोगग्रस्त कमजोर तथा आपस में उलझी शाखाओं को छँटाई द्वारा अलग कर देना चाहिए।

खाद एवं उर्वरक

आँवला के पौधों में रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों का उपयोग सामान्यतया नहीं किया जाता है। प्रजातियों की आवश्यकतानुसार गोबर की खाद, वर्मीकम्पोस्ट, हरे पत्तों की सड़ी खाद आदि का उपयोग करना चाहिए। सितंबर तथा अक्टूबर माह में नये पौधों में 15-20 कि.ग्रा. तथा वयस्क पौधों में 30-40 कि.ग्रा. गोबर की खाद प्रति वर्ष देनी चाहिए। जब पौधा 10 वर्ष का हो जाये तब उसे प्रति वर्ष 300 ग्रा. नाइट्रोजन तथा इसके बाद 600-900 ग्रा. नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वयस्क पौधे को 1-1.5 कि.ग्रा. सुपरफास्फेट तथा म्यूरेट आफ पोटाश उर्वरक प्रति वर्ष देना चाहिए। इन उर्वरकों का प्रयोग दो बार में अलग-अलग समय पर सितंबर-अक्टूबर में तथा दूसरा अप्रैल-मई में करना चाहिए।

गर्मी के मौसम में नर्सरी बेड में छोटे पौधों को घास की पलवार, गेहूँ या धान के भूसे से ढक कर रखना चाहिए जिससे कि भूमि में नमी बनायें रखी जा सके। कार्बनिक पदार्थों द्वारा की गयी मलचिंग भूमि में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ाती है तथा लवणों की ऊपरी दिशा में गति को भी रोकती है। आँवला के पौधों के मध्य के रिक्त स्थान में प्रारम्भिक वर्षों में अन्तर खेती के रूप में चना, मटर आदि फसलें लगायी जाती हैं। इस प्रकार खेती करने से दो फायदे होते हैं। रिक्त स्थान में उगने के अलावा ये फसलें नाइट्रोजन का स्थानीकरण कर भूमि में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ाती हैं। अमरूद, करौंदा, फालसा इत्यादि को भी आँवले के साथ अन्तर खेती के रूप में लगाया जा सकता है। लेग्यूमिनेसी फसलें अन्तर खेती के रूप में 8 वर्ष तक पैदा की जा सकती हैं। ऐसा तब तक किया जा सकता है जब तक पौधा अच्छी पैदावार देना प्रारम्भ नहीं करता है। यदि अच्छी तारबाड़ की व्यवस्था हो तो कुछ फूल वाले पौधे जैसे ग्लेडियोलस, ट्यूबरोज तथा मेरीगोल्ड की भी अन्तर खेती के रूप में पैदावार की जा सकती है।

प्रवर्धन तकनीक

आँवले को साधारणतया बीज से प्रवर्धित किया जाता है। किन्तु बीज द्वारा तैयार किये गये पौधे काफी अवधि के बाद फल देते हैं जो आकार में छोटे एवं कमजोर होते हैं। इसलिए कायिक प्रवर्धन ग्राफ्टिंग तथा बडिंग को प्राथमिकता दी जाती है।

बीज पौधा तैयार करने के लिए सर्वप्रथम जनवरी-फरवरी माह में फल को सुखाकर बीज निकाल लिया जाता है। अच्छी वृद्धि के लिए इकट्ठा किये गये बीजों को 200-500 पी.पी.एम. जिबरेलिक अम्ल से उपचारित किया जाता है। उपचारित बीजों को नर्सरी बेड में मार्च-अप्रैल में बोया जाता है। देर से बोये गये बीज एक ही वर्ष में बडिंग हेतु तैयार हो पाते हैं। मार्च-अप्रैल में बोया गया बीज दो हफ्तों में अंकुरित हो जाता है और 90-100 दिनों में पेंसिल के आकार के बराबर मोटाई प्राप्त कर लेता है जो बडिंग ग्राफ्टिंग में उपयोग होता है।

भूमि तथा जलवायु

आँवला की पैदावार पानी निकलने की उचित व्यवस्था वाली उपजाऊ दोमट भूमि पर सफलतापूर्वक की जाती है। आँवला में सूखा को सहन करने की क्षमता होती है तथा यह मध्यम क्षारीय मृदा में भी उपजाया जा सकता है। आँवला एक समशीतोष्ण फल है किन्तु यह शीतोष्ण स्थान में भी लगाया जाता है। आँवला के पौधे में गर्म हवा तथा पाले का ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता है। परिपक्व पौधे में 45° से.ग्रे. तक तापमान सहने की क्षमता होती है। गर्म ऋतु में फूलों के खिलने की प्रारंभिक अवस्था शुरू हो जाती है। पर्याप्त मात्रा में आर्द्रता फलों की वृद्धि के लिए आवश्यक होती है।

पुष्पन

आँवला के पौधों में पुष्पन मार्च के अन्तिम सप्ताह में प्रारम्भ हो जाता हैं। नर पुष्प गुच्छों के रूप में लगे रहते हैं। ज्यादातर नर एवं मादा पुष्प सायं 4-5 बजे के मध्य में खिलते हैं। मादा पुष्प पूर्णतया खिलने के लिए 72 घंटे लेता है। आँवला के पौधों में वायु, मधुमक्खी आदि द्वारा परागण होता है। इसके परागकण हल्के होते हैं तथा ज्यादा मात्रा में बनते हैं।

फल वृद्धि तथा विकास

बसन्त ऋतु में निषेचन के तुरन्त बाद परागण (36 घंटे के बाद होता है) के बाद भ्रूण सुसुप्तावस्था में रहता है तथा अंडाशय जुलाई तक कोई भी बाह्य लक्षण प्रदर्शित नहीं करता है। इसके बाद इसमें तेजी से वृद्धि होती है। कुछ समय बाद वृद्धि धीमी पड़ जाती है और फलों के आकार में ज्यादा वृद्धि नहीं होती है।

तुड़ाई

आँवला का मातृ पौधा, पौध रोपण के 7-8 वर्ष में फल देना प्रारम्भ करता है जबकि बडिंग या ग्राफ्टिंग द्वारा तैयार किया गया पौधा 4 वर्ष की अवस्था से ही फल देना प्रारम्भ कर देता है। फलों की तुड़ाई या तो दिन के पहले घंटों में या बाद के घंटों में की जाती है। फलों की तुड़ाई का सर्वोत्तम समय दिसम्बर-जनवरी माह होता है क्योंकि इसी समय फलों में एस्कार्बिक अम्ल प्रचुरता में एकत्रित रहता है। दक्षिण भारत में आँवला का फल पूरे वर्ष पाया जाता है। फलों की तुड़ाई के बाद उनके आकार के अनुसार श्रेणीकरण किया जाता है। आँवला फल को तीन ग्रेड में बाँटा जाता है- बड़ा, मध्यम तथा छोटा। आँवले को तुड़ाई के पश्चात एक सप्ताह तक साधारण तापमान पर रखा जा सकता है।

प्रतिऑक्सीकारक मूल्य

आँवला प्रतिऑक्सीकारक का एक अच्छा स्रोत है। यह एक अच्छा ऐंटी-एजिंग रिजुविनेटिव है जो शरीर पर आयु का प्रभाव नहीं पड़ने देता है। अतः यह आयु के प्रभाव को कम करने वाली औषधियों में काम आता है। आँवला में टैनिन होने के कारण यह विटामिन सी को कम नहीं होने देता है क्योंकि टैनिन ऑक्सीकरण को कम करता है।

प्रमुख रोग तथा कीट

फल सड़नः यह रोग पैनिसीलियम फफूँद से होता है जो फल परिपक्वता, फलों के भंडारण तथा स्थानान्तरण के समय लगता है। इसमें फलों में जल के समान धब्बे दिखायी देते हैं जो फूल जाते हैं तथा पहले पीले भूरे रंग तथा बाद में काले रंग के दिखायी देते हैं। ये धब्बे धीरे-धीरे आकार में बढ़ते हैं तथा फल गलन के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। जब फल में ये लक्षण दिखना प्रारम्भ होते हैं तब ऐसे फलों को अलग कर लेना चाहिए और 0.1-0.5 प्रतिशत बोरेक्स तथा सोडियम क्लोराइड से उपचारित करना चाहिए।

लीफ-रस्टः यह मानसून के बाद सितंबर माह में आक्रमण करता है। पौधों में भूरे निशान फल एवं पत्ते दोनों पर दिखायी देते हैं। ये निशान फल और पत्तों को नुकसान पहुँचाते हैं। इसके नियंत्रण हेतु पौधे पर डाइथेन एम 45 (0.037%) तथा इण्डोफिल एम 45 (0.03%) का छिड़काव करना चाहिए। पहला छिड़काव सितंबर माह के पहले सप्ताह में तथा दूसरा 15 दिन के बाद करना चाहिए। यह रोग *रिनेनिलिया इम्बलिकी* नामक फफूँद से होता है।

सूट गॉल मेकरः यह कैटरपिलर तने में छिद्र कर पिथ तक पहुँच जाता है। यह अगस्त-सितंबर (मानसून) में आक्रमण करता है तथा क्षतिग्रस्त स्थान में गॉल के समान रचना बना लेता है। क्षतिग्रस्त भागों की छँटाई कर देनी चाहिए तथा कीट के लार्वा को नष्ट करने हेतु 0.05 प्रतिशत मोनोक्रोटोफास का प्रयोग करना चाहिए।

बार्क ईटिंग कैटरपिलरः यह मुख्य शाखा में टनल बना लेता है। इस कीट को नियंत्रित करने के लिए 0.03 प्रतिशत एल्ड्रिन, केरोसिन तेल या पेट्रोल को रूई में लगाकर छिद्र में डाल कर ढ़क देना चाहिए या गीली मिट्टी से भर देना चाहिए। ऐसा सितंबर-अक्टूबर या फरवरी-मार्च में करना चाहिए।

प्रमुख व्यावसायिक प्रजातियाँ

बनारसीः यह जल्दी फल देने वाली प्रजाति है। इसका फल अंडाकार होता है तथा इसमें सफेद एवं हरे रंग के चकत्ते दिखायी देते हैं। यह मुरब्बा बनाने के काम आता है। इसकी पैदावार उत्तर भारत में सफलतापूर्वक होती है। यह माना जाता है कि आँवला की उत्पत्ति वाराणसी में हुई तथा यहाँ पैदा होने वाली प्रजाति सर्वश्रेष्ठ है।

चकैयाः इसके परागकण अन्य प्रजातियों में परागण के काम आते हैं। यह एक कठोर, देरी से फलने वाली किन्तु अच्छी पैदावार वाली प्रजाति है।

देशीः यह छोटे आकार तथा साधारण गुणवत्ता वाली प्रजाति है।

फ्रान्सिस (हाथी झूल): यह उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले से उत्पादित होने वाली तथा देरी से पकने वाली

प्रजाति है। इसके फल की गुणवत्ता अच्छी है।

इसके अलावा कुछ अन्य प्रजातियाँ निम्नानुसार है- बन्सी रेड, कन्चन (एन.ए.-4), कृष्णा (एन.ए. -5), नरेन्द्र आँवला-6 (एन.ए.-6), नरेन्द्र आँवला-7 (एन.ए.-7) एवं नरेन्द्र आँवला-10 (एन.ए.-10)।

आर्थिक महत्व

आर्थिक महत्व की दृष्टि से आँवला एक महत्वपूर्ण औषधीय फल है। आँवले का प्रयोग अनेक प्रकार की बीमारियों के नियंत्रण में किया जाता है। आँवले के प्रमुख औषधीय उपयोग निम्नलिखित हैं।

हृदय रोगः आँवला में पाये जाने वाला पैक्टिन सीरम मनुष्य में कोलेस्ट्रोल को कम करता है। यह प्लेटलेट्स का एकत्रीकरण तथा कोलेस्ट्रोल स्तर को कम करता है। इस प्रकार आँवला हृदय को आघात होने से बचाता है।

बालों की देख-रेखः आँवला का उपयोग बालों को स्वस्थ रखने के लिए बनाये जाने वाले अनेक प्रकार के मिश्रणों में किया जाता है। यह बालों की वृद्धि तथा पोषण में सहायता करता है। यह बालों की जड़ों को मजबूत करता है। आँवला के ताजे फल खाने से तथा इसके पेस्ट को बालों में लगाने से बालों का रंग काला रहता है। आँवला के नियमित प्रयोग से बालों को गिरने से भी रोका जा सकता है।

आँखों की देख-रेखः आँवला एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली प्रति प्रदाहक आयुर्वेदिक औषधि है। यह आँखों की समस्या, मुख्य रूप से सूतन/जलन के उपयोग में लाया जाता है।

मधुमेहः आँवला में पाये जाने वाला रासायनिक तत्व क्रोमियम मधुमेह के उपचार में काम आता है। आँवला उन कोशिकाओं को प्रभावित करता है जो इंसुलिन का स्राव करती है। इस प्रकार यह रक्त में उपस्थित शर्करा को कम करता है।

डायरिया, डिसेन्ट्री तथा संक्रमणः आँवला में ऐन्टीबैक्टेरियल गुण होता है। यह संक्रमण तथा अल्सर को रोकता है। आँवला डायरिया तथा डिसेन्ट्री रोगों की रोकथाम में काम आता है। इसके अलावा यह गैस की समस्या समाधान में भी कारगर है। आँवला से बना जूस रात को सोते समय लेने से पेट से संबंधित समस्याओं एवं पुरानी बीमारियों से निदान मिलता है।

खाद्य पदार्थों में उपयोगः आँवला फल से अचार, जैम, कैन्डी, स्क्वैश आदि जैसे बहुत से खाद्य पदार्थ बनाये जाते हैं। विटामिन सी तथा अन्य औषधीय गुणों के कारण इसका प्रयोग अनेक प्रकार की आयुर्वेदिक दवाओं (च्यवनप्राश, त्रिफला, ब्राह्मी रसायन, पाचन चूर्ण आदि) में किया जाता है।

अन्य उपयोगः आँवला का प्रयोग स्याही, हेयरडाई, हेयर शैम्पू तथा हेयर आयल आदि बनाने में किया जाता है। आँवले के फल की तुड़ाई के उपरान्त इसकी पत्तियाँ पशुओं के खाने के काम आती हैं। आँवला के पेड़ से ईंधन तथा इमारती लकड़ी भी प्राप्त होती है।

पैदावार

लगभग 10 वर्ष आयु का परिपक्व पौधा प्रत्येक वर्ष औसतन 1-1.5 कुन्टल फल देता है। एक अच्छी प्रकार से देख-रेख वाला पौधा 70 साल तक फल देता है।

चिरौंजी की बागवानी एवं उसकी उपयोगिता

ए.के. सिंह[1] एवं जे.पी. सिंह[2]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

चिरौंजी *(बुकानेनिया लेन्जन* स्प्रैंग) एनार्काडिएसी कुल का एक महत्वपूर्ण औषधीय गुण वाला वृक्ष है। इसकी उत्पत्ति मूलरूप से भारतीय उपमहाद्वीप में मानी जाती है तथा इसका विस्तार उत्तर पश्चिम और मध्य भारत के राज्यों में ज्यादातर मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड, गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र में पाया जाता है। चिंरौजी एक ऐसा फल वृक्ष है जो हमारे देश के विभिन्न भागों में उपलब्ध है किन्तु उसे अभी तक उतना महत्व नहीं मिला जिससे वह लोगों के बीच प्रचलित हो सके। बढ़ती जनसंख्या के दबाव तथा घटती प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि के कारण अधोपयोगी फलों (जिन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है) का महत्व आज काफी बढ़ गया है। आज जरूरत इस बात की है कि इसके पोषक एवं औषधीय गुणों के कारण इसकी उपयोगिता एक व्यावसायिक फसल के रूप में सिद्ध की जाये। ऐसा कर अनुपजाऊ, परती पड़ी और खाली भूमि पर चिरौंजी की व्यावसायिक खेती द्वारा अच्छी आय प्राप्त की जा सकती है।

यह मध्यम आकार का पर्णपाती वृक्ष है जो शुष्क पर्णपाती जंगलो में एवं पहाड़ी ढलानों एवं भारत के प्रायद्वीपीय प्रदेशों में प्रमुखतया से पाया जाता है। चिरौंजी का वृक्ष लगभग 12 से 15 मीटर लम्बा होता है। इसकी पत्तियाँ आयताकार अथवा अंडाकार-आयताकार 4 से 9 से.मी. लम्बी और 2 से 10 से.मी. चौड़ी होती हैं। फूल 4 मि.मी. का हरा-सफेद अवन्त और उभयलिंगी होता है। इसके फल गुठलीदार एवं अपरिपक्व अवस्था में हरे रंग के होते हैं तथा परिपक्व फलों का रंग काला होता है। प्रत्येक फल एक बीजी छोटे सेम के आकार का होता है। इस फल की गुठली को मींगी कहते हैं एवं बीज की गिरी चिरौंजी कहलाती है जो खाने में स्वादिष्ट एवं स्वास्थवर्धक होती है। चिरौंजी पूरे वर्ष उपयोग में आने वाला फल है जिसे संवर्द्धक और पौष्टिक जानकर सूखे मेवों के रूप में भी स्थान दिया जाता है। इसका प्रयोग भारतीय पकवानों, मिठाइयों, खीर, सेंवई इत्यादि में प्रमुख रूप से किया जाता है।

अधोपयोगी फल होने के कारण इसके पौधे निरन्तर कम हो रहे हैं जिसके कारण इसके विलुप्त होने का खतरा बना हुआ है। यह एक उष्णकटिबंधीय फल वृक्ष है तथा इसके फलों में अनेक स्वास्थ्यवर्धक औषधीय गुण हैं। अच्छी किस्मों के चयन एवं वैज्ञानिक विधि द्वारा इसकी बागवानी कर इसका उत्पादन बढ़ाया जा सकता है जिससे किसानों एवं स्थानीय आदिवासीयों को आजीविका का साधन मिल सकता है।

[1]प्रधान वैज्ञानिक एवं [2]वरिष्ठ शोध सहायक

चिरौंजी का वृक्ष एवं फल

बागवानी

चिरौंजी का पौधा सामान्यतया बीज द्वारा ही तैयार किया जाता है। बीजों को नर्सरी में जुलाई के महीने मे बोया जाता है तथा इसमें बीजांकुरण लगभग 20-40 दिनों में होता है। बीजू पौधों में फूल और फलत काफी लम्बे समय (लगभग 10 से 15 वर्ष) बाद आती है। बीजू पौधे लगभग एक से दो वर्षों में वानस्पतिक प्रवर्धन के लिए मूलवृन्त के रूप में प्रयोग हेतु तैयार हो जाते हैं। चिरौंजी की व्यावसायिक खेती करने के लिए समुचित जल निकास वाली दोमट अथवा हल्की काली मृदा सर्वोत्तम होती है। चिरौंजी के बाग को वर्गाकार विधि द्वारा 8×8 मीटर की दूरी पर लगाना चाहिए। गड्ढों को 15-20 दिन पहले खोद कर उसमें 20 से 30 कि.ग्रा. गोबर की खाद, 500 ग्रा. डी.ए.पी. तथा 100 ग्रा. यूरिया मिला कर भर देना चाहिए। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में गड्ढों में चिरौंजी के पौधों का रोपण करना चाहिए। रोपण के पश्चात पौधों के आसपास नमी संरक्षण एवं खरपतवार नियंत्रण करने के लिए एक-दो निराई-गुड़ाई कर उस पर सूखी घास की मोटी अवरोध परत बिछा देनी चाहिए। इससे पौधों की बढ़वार अच्छी होती है। चिरौंजी का पौधा जल भराव के प्रति सहिष्णु होता है अतः इसके पौधों में हल्की सिंचाई तथा जल निकास का समुचित प्रबंध करना चाहिए।

जैव विविधता विस्तार

चिरौंजी में अभी तक प्रजातियों का चयन नहीं किया गया है। किन्तु इसके फलों के आकार, स्वाद तथा उत्पादन में भिन्नता पायी जाती है। सामान्यतः इसकी सात प्रजातियों के बारे में विवरण मिलता है जिसमें भारत में इसकी दो प्रजातियाँ *बी. लनजन (सान.बी. लेटिफोलिया)* एवं *बी. एक्सीलेरीज (सान. बी. एनजुकीटिफोलिया)* खाद्य फल प्रदान करने वाली प्रजातियाँ है जबकि *बी. लेनसीइलोटा* बहुत कम संख्या में जंगलों में पायी जाती है। जीनस की अन्य प्रजातियों में *बी.लुसीडा, बी.गलाबरा* और *बी. एसुमिनाटा* शामिल है। फलों का आकार, फल वजन, बीज वजन, कर्नेल वजन, बीज कवच, कुल घुलनशील शर्करा (टी.एस.एस.), विटामिन सी एवं पेड़ में फलों

की उपज के अनुसार परिवर्तनशीलता होती है जो कि एक बेहतर फल वृक्ष के चयन के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इतनी भिन्नताओं के होते हुए इसमें प्रजातियों का चयन तथा व्यावसायिक महत्ववाली प्रजातियों का विकास करने की आवश्यकता है।

पौष्टिक मूल्य एवं उपयोग

चिरौंजी फलों की गुठली से निकाली गयी गिरी होती है जिसे बोलचाल की भाषा में पियाल, प्रियाल या फिर चारोली या चिरौंजी भी कहा जाता है। भारतीय चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों जैसे आयुर्वेदिक और यूनानी प्रणालियों में चिरौंजी का विभिन्न रोगों के उपचार में प्रयोग किया जाता है। चिरौंजी मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, दस्तावार और वात, पित्त, जलन, प्यास और ज्वर का शमन करने वाला होता है। चिरौंजी की जड़ें तीखी एवं कसैली होने के कारण दस्त के उपचार में प्रयोग की जाती हैं। पत्तियों का त्वचा रोगों के उपचार में उपयोग किया जाता है। फलों का खाँसी और अस्थमा के उपचार में भी प्रयोग किया जाता है। चिरौंजी का उपयोग मुख्यतया मिठाईयों जैसे हलवा, लड्डू, खीर, पाक आदि में सूखे मेवों के रूप में किया जाता है। चिरौंजी गिरी एक उच्च मूल्य का उत्पाद है (सारणी 1)। सौंदर्य प्रसाधनों में इसका उपयोग बहुतायत में किया जाता है। चिरौंजी का पेस्ट एक अच्छा त्वचा कंडीशनर है। चिरौंजी की गिरी का तेल भारतीय चिकित्सा में बादाम के तेल का एक विकल्प है। गिरी का प्रयोग तेल निकालने में तथा इसकी गिरी की खली जानवर के भोजन के रूप में की जाती है।

सारणी 1: चिरौंजी गिरी के पौष्टिक मूल्य

पोषक तत्व						
प्रोटीन (ग्रा.)	वसा (ग्रा.)	कार्बोहाइड्रेट (ग्रा.)	रेशा (ग्रा.)	कैल्सियम (मि.ग्रा.)	फास्फोरस (मि.ग्रा.)	आयरन (मि.ग्रा.)
19.0	59.1	12.1	3.8	279	528	8-5
विटामिन						
विटामिन बी.-1 (मि.ग्रा.)		विटामिन बी.-2 (मि.ग्रा.)		नियासिन (मि.ग्रा.)		विटामिन सी (मि.ग्रा.)
0.69		6.53		1.5		5

पॉलीहाउस में अनिषेकफलक (पार्थेनोकारपिक) खीरे की खेती

वी.के. सिंह[1], कामिनी सिंह[2] एवं अनुराग सिंह[3]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

फसलोत्पादन में पॉलीहाउस का उपयोग पिछले एक दशक से अनेक देशों में किया जा रहा है एवं इसके प्रयोग से अधिक लाभ भी प्राप्त किया गया है। पॉलीहाउस की स्थापना एवं संचालन में बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है। किन्तु उच्च मूल्य की फसलों को पॉलीहाउस में मनचाहा वातावरण उपलब्ध कर पैदा करने से आमदनी अधिक होती है। इसीलिए पॉलीहाउस में पूरे वर्ष खीरे की खेती को अधिक वरीयता दी जाती है। चूँकि खीरा एक पर-परागित फसल है जिसमें परागण के लिए घरेलू मक्खियों या मधु-मक्खियों द्वारा परागण किया जाता है, परागण की समस्या के परिणामस्वरूप फल टेढ़े-मेढ़े होने लगते हैं। अतः इस समस्या को देखते हुए खीरे की अनिषेकफलक (पार्थेनोकारपिक) प्रजाति की खेती पॉलीहाउस में करना अधिक लाभप्रद है जिससे आसानी से उच्च गुणवत्तायुक्त अधिक उपज ली जा सके। पार्थेनोकारपिक प्रजाति में केवल मादा फूल होते हैं। चूँकि पार्थेनोकारपिक प्रजाति में फल दूसरे नोड से लगना शुरू होते हैं जबकि सामान्य प्रजातियों में दसवें नोड से शुरू होते हैं इसलिए पार्थेनोकारपिक प्रजाति का उत्पादन सामान्य प्रजातियों के उत्पादन से चार गुना अधिक होता है।

खीरे की नवीन एवं प्रभावी किस्म से उत्पादन प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म जलवायु का नियंत्रण आवश्यक है। इसमें फसल के लिए अनुकूलतम सूक्ष्म जलवायु का निर्धारण सामान्यतः उस प्रजाति के क्षेत्रीय मूल्यांकन पर आधारित होता है। पॉलीहाउस में सामान्यतः दिन का तापमान रात्रि के तापमान से 5-70 सें.ग्रे. अधिक होता है। वायु में यदि कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा 350 पी.पी.एम. से अधिक हो तो उत्पादकता बढ़ जाती है। पॉलीहाउस में वायु की सापेक्षित आर्द्रता 80 प्रतिशत से अधिक हो तो फफूँद द्वारा व्याधियाँ फैल जाती हैं। अतः पौध संवर्धन के लिए 90 प्रतिशत नमी एवं आर्द्रता सामान्यतः 60-80 प्रतिशत तक ही होनी चाहिए। पॉलीहाउस में जलवायु नियंत्रण को संतुलित रखने के लिए बहुत अधिक उर्जा की आवश्यकता होती है। यह प्रौद्योगिकी उर्जा संरक्षण द्वारा आर्थिक रूप से लाभप्रद हो सकती है।

पौध तैयार करनाः पौधे तैयार करने के लिए 50 छिद्रों वाले प्रो ट्रे का इस्तेमाल करते हैं। प्रो ट्रे में भरने हेतु मिश्रण जैसे कोकोपीट, परलाइट एवं वर्मीकम्पोस्ट का इस्तेमाल करते हैं। कोकोपीट, परलाइट एवं वर्मीकम्पोस्ट की बराबर मात्रा को अच्छी तरह

[1]प्रधान वैज्ञानिक, [2]वरिष्ठ शोधकर्ता एवं [3]शोध एसोसिएट

मिलाकर प्रो ट्रे में भर लेते हैं और सभी छिद्रों में एक-एक बीज की बोआई करते हैं। बीज बोने के उपरान्त 3-4 दिन के अन्दर अंकुरण हो जाता है एवं पौधे 20-25 दिनों में रोपण हेतु तैयार हो जाते हैं।

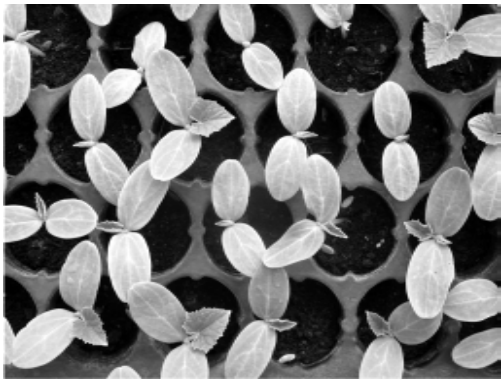

प्रो ट्रे में तैयार पौधे

वानस्पतिक विवरणः खीरा एक वर्षीय लता है। इसकी पत्तियाँ सरल, सवृन्त तथा पार्णिवृन्त होता है। मूलतः यह एकलिंगी होता है। जिसमें नर एवं मादा फूल एक ही पौधे पर अलग-अलग जगह पर लगते हैं। नर फूल जल्दी गुच्छे में तथा पुष्प वृन्त पर उत्पन्न होते हैं जबकि मादा फूल देरी से एवं लम्बे पुष्प वृन्त पर उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः खीरा एक पर-परागित फसल है तथा परागण घरेलू मक्खियों या मधु-मक्खियों के द्वारा होता है। पॉलीहाउस में मधु-मक्खियों के रख-रखाव में आने वाली अधिक कठिनाइयों तथा कीटनाशकों के प्रभाव से उनके बचाव हेतु खीरे की पार्थेनोकारपिक प्रजाति ही लगाते हैं क्योंकि इसमें केवल मादा फूल ही पुष्पवृन्त पर लगते हैं।

अनिषेकफलक (पार्थेनोकारपिक) प्रजाति के फल

भूमि की तैयारीः मिट्टी की गहरी गुड़ाई कर उसे भुरभुरा कर लेना चाहिए। इसके पश्चात 3-4 कि. ग्रा. प्रति वर्ग मीटर गोबर की सड़ी खाद (एफ.वाइ. एम.), 10 ग्राम यूराडान तथा 5 ग्राम सूक्ष्म तत्वों का मिश्रण (जिंक, तांबा, लौह, बोरान, मैगनीज़ तथा मॉलीब्डेनम) का प्रयोग किया जाता है। इसके अलावा 7 ग्राम नाइट्रोजन, 4 ग्राम फास्फोरस एवं 5 ग्राम पोटाश प्रति वर्ग मीटर की दर से मिलाते हैं।

पलवार (मल्च) का प्रयोगः बेड बनाते समय 100 माइक्रॉन मोटी काली प्लास्टिक (पॉलीथीन) की पलवार का प्रयोग लाभप्रभ होता है क्योंकि इससे खरपतवार का कुप्रभाव फसल के ऊपर नहीं पड़ता। पलवार के

तैयार बेडों पर पलवार बिछाना

प्रयोग से जल संरक्षण होने के कारण खेत में नमी लम्बे समय तक बनी रहती है।

सिंचाई तथा उर्वरकः हरितगृह में खीरे की सिंचाई ड्रिप के माध्यम से करते हैं, जिसमें दो एल.पी.एच. का ड्रिपर लगाते हैं जो एक घंटे में दो लीटर पानी प्रति पौधे की जड़ क्षेत्र में देता है। पौधों को प्रति दिन 2-3 लीटर पानी की आवश्यकता होती है। खीरे में चूँकि नमी 90 प्रतिशत होनी चाहिए इसलिए स्प्रिंकलर अथवा फॉगर द्वारा दिन में दो से तीन बार पानी का छिड़काव करना चाहिये।

सिंचाई के साथ उर्वरक फर्टिगेशन प्रणाली द्वारा दिये जाते हैं। 10-12 दिन के अन्तराल पर घुलनशील एन.पी.के. (19:19:19) उर्वरक 2.8 ग्राम प्रति वर्ग मीटर की दर से देना चाहिए। सूक्ष्म पोषक तत्वों के मिश्रण को 0.3 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करना चाहिए।

पार्थेनोकारपिक प्रजातिः कियान एवं इसाटिस

बुआई का समयः सामान्यतः पॉलीहाउस में पार्थेनोकारपिक प्रजाति की खेती-वर्ष पूरे की जा सकती है, परन्तु उत्तर भारत में अधिक लाभ हेतु बेमौसमी फसल उगाने के लिए अक्टूबर या फरवरी माह में बुआई करनी चाहिए ताकि अक्टूबर में बोई गयी फसल क्रमशः दिसम्बर से फरवरी तथा फरवरी में बोई गयी फसल अप्रैल से जून माह में उत्पादन दे जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

बीज दरः पार्थेनोकारपिक प्रजाति के बीज बाजार में संख्या के आधार पर उपलब्ध होते हैं। अतः 3.7 पौधे प्रति वर्ग मीटर की दर से लगभग 40000 बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।

रोपण विधिः खीरा के लिए एक मीटर चौड़े एवं 15 सेंटीमीटर ऊँचाई वाले बेड बनाते हैं। उसके उपरान्त उस पर ड्रिप लाइन एवं काली प्लास्टिक की पलवार बिछाते हैं। पलवार बिछाने के उपरान्त 60×45 सेंटीमीटर की दूरी पर छेद काट कर एक-एक पौधे की बुआई करते हैं। बुआई के 10-15 दिनों तक पौधों की सिंचाई हजारे की सहायता से करते हैं जब तक पौधा सही ढंग से स्थापित न हो जाये।

पौधे को सहारा देनाः खीरा एक लता वाली फसल है जिसको सहारा देने हेतु मचान बनाते हैं और प्लास्टिक सुतली द्वारा पौधे को ऊपर की ओर बाँधते हैं। पौधे को बाँधते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पौधे सुतली के दबाव से कटने न पाये। पौधे की ऊंचाई बढ़ने के साथ सुतली को ढीला कर पौधे के फलन क्षेत्र को नीचा किया जाता है जिससे तुड़ाई में आसानी हो।

तुड़ाई एवं उपजः पार्थेनोकारपिक प्रजाति में फल दूसरे नोड से लगते हैं। पौधे लगाने के 45-50 दिन उपरांत फल तोड़ने हेतु तैयार हो जाते हैं। फलों की तुड़ाई 3-4 दिनों के अंतराल पर करना चाहिए।

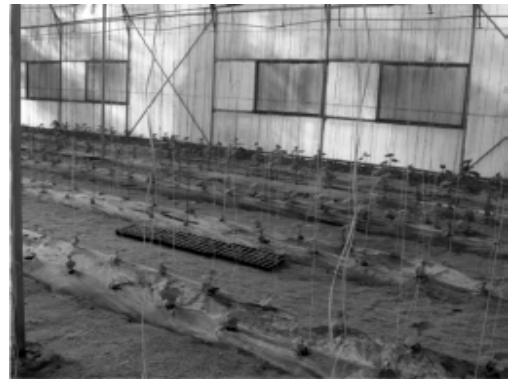

पौधों को सहारा देना

पॉलीहाउस में पार्थेनोकारपिक खीरे की फसल

फलों की तुड़ाई के उपरांत इन्हें सावधानीपूर्वक प्लास्टिक की क्रेट में रखकर बाजार में भेजा जाता है। पॉलीहाउस में खीरे की उपज 3-4 कि.ग्रा. प्रति वर्ग मीटर (300-400 टन प्रति हेक्टेयर) होती है। हर पौधा लगभग 1-1.5 कि. ग्रा. फल देता है।

ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
सबसे श्रेष्ठ वही बाह्मण है, हो जिसमें तप-त्याग।
तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग में प्रशस्ति अपना करतव दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।

-रामधारी सिंह 'दिनकर'

फल वृक्षों के लिए मृदा जल का महत्व

कैलाश कुमार[1], तरुण अदक[2] एवं विनोद कुमार सिंह[3]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

मृदा और पौधों की जैव-रासायनिक क्रियाओं के लिए जल एक मुख्य कारक है। जल मृदा क्रियाओं जैसे चट्टानों का अपक्षय, मूल पदार्थ का निर्माण, संरचना एवं विकास और ताप के संहारण के लिए आवश्यक है। जल पौधों के जीवन के लिए महत्वपूर्ण कार्य करता है। जल विलायक होने के साथ पौधों के लिए आवश्यक तत्वों के वाहक के रूप में भी कार्य करता है। भौतिक रूप से जल मृदा में तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। पहला आर्द्रताग्राही जल जो ठोस द्रव सतह पर अत्यधिक महीन परत के रूप में रहता है। यह जल मृदा में अत्यधिक दृढ़ता से धारित होने के कारण अचल होने के कारण पौधों को प्राप्त नहीं होता है। दूसरा कोशिका जल द्रव अवस्था में होता है। यह सभी दशाओं में गतिशील होता है। यह पौधों के लिए जल का सबसे बड़ा स्रोत है। कोशिका जल ही विलेय पोषक तत्वों को अपने अन्दर घोल कर अधिक समय तक स्थिर रखता है। यह मृदा विलयन के रूप में कार्य करता है। तीसरा गुरुत्वाकर्षण जल जो मृदा के दीर्घ स्न्ध्रों में स्वतंत्र रूप में रहता है, इसलिए यह स्वतंत्र जल कहलाता है। पौधे पानी को अपनी जड़ों द्वारा अवशोषित करते हैं। मृदा से जल-अवशोषण के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है उसे मैट्रिक पोटेंशियल कहते हैं। जब मृदा में नमी कम होती है तब पौधों को मृदा से पानी लेने के लिए अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस स्थिति में मैट्रिक पोटेंशियल अधिक होता है। जिससे पौधे में पानी के कमी के लक्षण दिखायी देने लगते हैं जिसको मैट्रिक प्रभाव कहते है।

पौधों के लिए जल के कार्य

- प्रकाश-संश्लेषण और वाष्पोत्सर्जन क्रियाओं के लिए कारक का कार्य करता है।
- जल पौधों में टरगर दबाव लिए आवश्यक है।
- जल अच्छा विलायक है और पौधों के लिए पोषक तत्वों के वाहक के रूप में कार्य करता है।
- जल पौधों के लिए खाद्य पदार्थ के रूप में कार्य करता है।
- पौधों के ताप को नियंत्रित करता है।
- कार्बनिक पदार्थों का विच्छेदन, सूक्ष्मजीवों की वृद्धि एवं जैव-रासायनिक क्रियाओं के लिए आवश्यक होता है।

पौधों में जल की कमी के लक्षण

- पौधों की वृद्धि कम हो जाती है।
- जल की कमी के कारण पौधे मुरझा जाते हैं।
- जल की कमी से पौधों में पोषक तत्वों की कमी

[1]प्रधान वैज्ञानिक, [2]वैज्ञानिक एवं [3]तकनीकी अधिकारी

हो जाती है।

- पौधों की जड़ों की वृद्धि कम हो जाती है।
- पौधों के कूलिंग प्रभाव को कम करता है जिससे सूक्ष्म जलवायु प्रभावित होती है।

जल की अधिकता का पौधों पर प्रभाव

- मृदा में जल की मात्रा अधिक होने पर पौधों की वृद्धि प्रभावित होती है।
- मृदा में वातन की कमी हो जाती है। वायु की कमी से पौधों की वृद्धि रुक जाती है।
- कार्बनिक पदार्थों का विच्छेदन प्रभावित होता है।
- वायु की कमी में आयरन और मैगनीज का रासायनिक अवकरण हो जाता है जो पौधों की वृद्धि के लिए विषैला होता है।
- नाइट्रोजन का स्थिरीकरण नहीं हो पाता है।
- जड़ों का उचित विकास नहीं हो पाता है।
- मृदा का ताप कम हो जाता है।
- पोषक तत्वों का ह्रास अधिक होता है।

मृदा जल प्रबंधन

मृदा में उपस्थित सारा जल पौधों की वृद्धि के लिए उपलब्ध नहीं हो पाता है। मुरझान गुणाँक और क्षेत्र क्षमता के बीच जो जल की मात्रा होती है वह जल पौधों को प्राप्त होता है। यह जल मृदा की प्रति इकाई आयतन में उपस्थित जल की मात्रा और मृदा की गहराई, जिसमें से पौधे जल ग्रहण करते हैं, पर निर्भर करता है। प्राप्त जल की मात्रा को मृदा नमी तनाव संबंध, लवणों की उपस्थिति और मृदा की गहराई आदि प्रभावित करते हैं। पौधों के द्वारा मृदा से जल का शोषण कोशिका संचालन की दर एवं जड़ों की प्रसार की गति पर निर्भर करता है। मृदा जल का ह्रास मुख्य रूप से द्रव और वाष्प रूप में होता है। भू सतह पर मृदा जल का ह्रास जल के बहने एवं अंतः स्रवण से होता है। मृदा जल के उचित प्रबंधन हेतु पलवार, शून्य शस्य-क्रियाएँ और रासायनिक पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। मृदा नमी पर नियंत्रण हेतु उचित जल निकास आवश्यक है जिससे मृदा ताप को भी नियंत्रित किया जा सके। मृदा ताप उचित होने पर पोषक तत्वों का पौधों द्वारा अवशोषण अच्छा होने के साथ पौधों की वृद्धि अच्छी होती है।

आम में सिंचाई की आवश्यकता पूरे वर्ष नहीं होती है। आम में पानी की आवश्यकता भूमि एवं जलवायु पर निर्भर करती है। आम के 3-6 वर्ष, 6-10 वर्ष एवं 10 वर्ष या अधिक आयु वाले वृक्षों में क्रमशः 30-35, 50-60 एवं 80-90 लीटर प्रति वृक्ष प्रतिदिन पानी की आवश्यकता होती है। फलत वाले आम के बागों में फल की उपज एवं गुणवत्ता पर सिंचाई का बहुत प्रभाव पड़ता है। आम के फलदार वर्गों में प्रतिवर्ष 6400 लीटर प्रति वृक्ष पानी की आवश्यकता आँकी गयी है। सामान्यतया आम के लिए 3 सिंचाई की आवश्यकता होती है। पहली सिंचाई फल बैठने पर, दूसरी सिंचाई जब आम के फल मटर के दाने के आकार के हो जाये और तीसरी सिंचाई मई के दूसरे सप्ताह में करनी चाहिए। आम के बाग में 30-40 प्रतिशत पानी की

बचत टपक प्रणाली द्वारा की जा सकती है।

मृदा में पानी की उचित मात्रा होने पर अधिक मात्रा में गुणवत्ता युक्त उपज प्राप्त होती है। केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ के वैज्ञानिकों द्वारा किये गये शोध में पाया गया है कि 20 प्रतिशत उपलब्ध मृदा नमी फलों की वृद्धि एवं विकास के लिए सर्वोत्तम है। इसलिए मृदा जल की मात्रा को पौधों की आवश्यकतानुसार (क्रान्तिक स्तर पर) निश्चित रूप से उपलब्ध कराना चाहिए जिससे फलों की गुणवत्ता अच्छी बनी रहने के साथ-साथ उनका रासायनिक संगठन अच्छा रहे। जल की उपयोगिता के महत्व को ध्यान में रखते हुए जल का उपयोग उचित मात्रा में करना चाहिए। इससे मृदा उर्वरता को सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है।

- उचित भू परिष्करण क्रियाएँ उचित समय पर की जा सकती हैं। इससे मृदा में जल शोषण और धारण करने की क्षमता बढ़ जाती है।
- उचित जल निकास करना चाहिए जिससे मृदा में कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा नियमित रहे और पौधों की जड़ों का विकास अच्छा बना रहे।
- मृदा अपरदन और खरपतवार नियंत्रण भी करना चाहिए जिससे मृदा नमी का ह्रास कम हो।

आम में दैहिकीय विकार एवं पोषक तत्वों की कमी

ए.के. मिश्र[1] एवं वी.के. सिंह[2]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

आम (*मैंजीफेरा इंडिका*एल.) भारतीय उपमहाद्वीप का एक फल है। यह भारतीय संस्कृति एवं धार्मिकता का प्रतीक है। भारतीय उपमहाद्वीप में आम की बागवानी 4000 वर्षों से अधिक समय से की जा रही है। आम के पोषक तत्वों में विद्यमान गुण, स्वाद, खुशबू तथा स्वास्थवर्धक विशेषताओं के कारण यह फल राजाओं तथा सर्वसाधारण दोनों वर्गों में अत्यन्त प्रिय रहा है। वर्तमान समय में विश्व के 87 देशों में आम की व्यावसायिक खेती की जा रही है। भारतीय उपमहाद्वीप में आम का जितना महत्व है, उतना शायद किसी अन्य देश में नहीं है।

सामान्यतया जलवायु की विविधताएँ, वातावरण की परिस्थितियाँ, कीट, बीमारियाँ एवं अनियमितताओं से संबंधित समस्याओं के कारण आम का उत्पादन घट जाता है। आम की फसल में लगभग 140 से अधिक रोगकारक पाये जाते हैं जो फसल को अनेक प्रकार से नुकसान पहुँचाते हैं।

फफूँद, जीवाणु, शैवाल, लाइकेन, फूल वाले परजीवी पौधे, अधिपादप, पोषकीय असंतुलन और विषैली गैसों से रोग तथा अनिमितताएँ उत्पन्न होती हैं। कुछ रोगों के कारण तो ज्ञात नहीं हैं, किन्तु फिर भी वे आर्थिक रूप से अधिक नुकसान पहुँचाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अनियमितताओं के लक्षण अलग-अलग पाये जाते हैं जो पौधों की आंतरिक दैहिकी क्रियाओं की कमियों से उत्पन्न होते हैं।

आम के कुछ रोग, दैहिकीय विकार एवं पोषक तत्वों की कमी के बारे में जानकारी नीचे दी जा रही है।

कोयलिया/कोयली

कारक

ईंट के भट्ठों में प्रयुक्त कोयले के जलने से उत्पन्न गैसों के नुकसानदायक प्रभाव से आसपास के क्षेत्रों में पाये जाने वाले आम के बगीचों में कोयलिया नामक विकार उत्पन्न होता है। इसके लिए उपरोक्त विषाक्त गैसें ही उत्तरदायी होती हैं।

लक्षण

जिन पेड़ों के फलों पर यह बीमारी पायी जाती है, वे पेड़ हर प्रकार से सामान्य होते हैं। फलों पर लक्षण तब दिखायी देते हैं, जब फल एक निश्चित आकार के हो जाते हैं। यह रोग फलों पर अप्रैल-मई के माह में दिखायी देता है जब फल करीब एक सें. मी. लम्बाई के हो जाते हैं। रोग का प्रथम लक्षण यह है कि फलों के निचले सिरे पर हरा रंग सामान्य से अलग दिखता है जो धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और बाद में लगभग काला सा हो जाता है तथा अंतिम

[1]परियोजना समन्वयक (उपोष्ण फल) एवं [2]प्रधान वैज्ञानिक

सिरे को पूर्णतः घेर लेता है। वर्णहीनता की प्रक्रिया पूर्ण होने से पहले भूरे रंग के धब्बे बनते हैं जो धीरे-धीरे बढ़ कर गहरे भूरे रंग के हो जाते हैं और आपस में मिल कर एक लम्बा सा ऊतकक्षयी क्षेत्र बनाते हैं। इस अवस्था में बाह्य सतह से देखने पर रोगग्रस्त फलों में तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्र दिखायी देते हैं। (अ) स्वस्थ हरा भाग फलों की ढेंपी की तरफ का बड़ा हिस्सा स्वस्थ होता है, (ब) ऊतकक्षयी भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा फल के निचले क्षेत्र का बहुत कम भाग जो ऊतकक्षयी भाग होता है, एवं (स) संकरा भाग उपरोक्त दोनों भागों के बीच में संकरा वर्णहीन भाग पाया जाता है जिसकी त्वचा में उभार होता है। अन्त में ऊतक मरने लगते हैं तथा ऊतकक्षयी भाग नष्ट हो जाता है। अंतिम चोंचनुमा भाग पिलपिला हो जाता है (फल का बचा हुआ भाग ठोस, कच्चा एवं कठोर होता है) तथा हल्का मीठा होता है लेकिन साधारण रूप से पके फल की अपेक्षा इसका स्वाद भिन्न होता है। फल में ऊतकक्षयी भाग हमेशा फल के निचले नुकीले भाग तक ही सीमित होता है। बाद में प्रभावित फलों का छिलका एवं गूदा विघटित होने के पश्चात गहरे भूरे रंग का दिखायी देता है जिससे गुठली निकली हुई दिखायी देने लगती है तथा निर्जीव ऊतकों की एक पर्त भी इसके ऊपर पायी जाती है। पर्त की मोटाई गूदे के नष्ट होने पर निर्भर करती है। यद्यपि आम का सम्पूर्ण भाग ऊतकक्षयी नहीं होता है तथा स्वस्थ भाग जो बचा रहता है सीधे तौर पर प्रभावित नहीं होता है, लेकिन स्वाद में कमी आ जाती है। भंडारण के दौरान फल ठीक से नहीं पकते हैं तथा खाने योग्य भी नहीं रह जाते हैं। इसके साथ-साथ ऊतकक्षयी भाग से गोंद भी निकलता हुआ दिखायी देता है।

प्रबंधन

कोयलिया का नियंत्रण दो प्रकार से किया जा सकता है- बचाव के उपाय एवं रोकथाम।

बचाव के उपाय

- ईंट-भट्ठों की चिमनियों की स्थापना आम के बागों से उत्तर-दक्षिण दिशाओं में कम-से-कम 5-6 कि.मी. दूरी पर स्थापित करनी चाहिये।
- मार्च के प्रथम सप्ताह से लेकर मई के तीसरे सप्ताह तक ईंट-भट्ठों को नहीं चलने देना चाहिए। यदि सम्भव हो तो आम की पूरी फसल के दौरान भट्ठों को नहीं चलाने देना चाहिए।
- चिमनियों की ऊँचाई 40-50 फुट या इससे अधिक होनी चाहिए जिससे धुएँ में पायी जाने वाली विषैली गैसों की सांद्रता पुष्पन एवं फलन के दौरान कम की जा सके।
- चिमनियों से निकलने वाली गैसों को धुँआ रहित करने के लिए ईंट के भट्ठों में आवश्यक संयत्र लगानी चाहिए।

रोकथाम

- क्षारीय रसायनों जैसे कास्टिक सोडा या कपड़ा धोने वाला सोडा (1.6 कि.ग्रा./ 200 ली. पानी) या बोरेक्स अर्थात सुहागा (1%) का छिड़काव कर रोग को नियंत्रित किया जा सकता है।

कोमल नाक

तुड़ाई की अवस्था में आम के फलों के शीर्ष सिरे की पार्श्व सतह पर गूदे की विघटित होने की

प्रक्रिया को फ्लोरिडा में सॉफ्ट नोज के नाम से जाना जाता है। मलेशिया में इस प्रकार की अवस्था को खमीरी फल सड़न या यीस्टी फल सड़न या इन्सीडियस फल सड़न के नाम से जाना जाता है। यह पादप विकार सम्भवतः सॉफ्ट नोज के समरूप है।

कारक

अभी तक इस विकार के विषय में कारक की जानकारी नहीं हो पायी है।

लक्षण

पेड़ में पकने के लिए छोड़े गये फलों पर यह रोग पाया जाता है किन्तु तुड़ाई के उपरान्त भंडारित फलों में यह रोग नहीं पाया जाता है। आम के फलों में शीर्ष सिरे की पार्श्व सतह पर हरे छिलके पर पीलापन आने के कारण कोमल नाक (सॉफ्ट नोज) रोग आसानी से पहचाना जा सकता हैं। प्रभावित फलों के ऊपरी भाग को छोड़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि फल बहुत अधिक पक चुके हैं। हैडन किस्म के परिपक्व फलों में पकने के दौरान यह दशा अधिकांशतः पायी जाती हैं तथा कभी-कभी पूर्णतः परिपक्व फलों में पकने के दौरान मिलती है। अधिक पके फलों का गूदा पीले-भूरे रंग के ऊतकों को घेरे रहता है जो घेरे हुए गूदे की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होता है तथा स्वाद में कड़वा होता है। विकार की अधिकता में ऊतक भूरे काले रंग के स्पंजी दिखायी देते हैं जो बाद में बढ़ जाते हैं। भारत में पाये जाने वाली स्पंजी ऊतक रोग से यह अनियमितता भिन्न होती है।

प्रबंधन

अनुसंधान द्वारा यह पाया गया है कि आम के पेड़ों में नाइट्रोजन की अधिकता से फलों में सॉफ्ट नोज की अनियमितता बढ़ती है। लेकिन अधिक कैल्सियम की मात्रा डालने से यह प्रवृत्ति कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

- मिट्टी में अधिक नाइट्रोजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
- कैल्सियम की उचित मात्रा मिट्टी में बनाये रखनी चाहिए।
- शीघ्र पकने वाली किस्मों में यह समस्या कम पायी जाती है। अतः उनकी संस्तुति की जाती है।

स्पंजी ऊतक

आम की अल्फांसो किस्म में पके फलों के आंतरिक गूदे में पकने के दौरान विघटन होता है, जो स्पंजी ऊतक कहलाता है। ऐसे फल खाने के अनुकूल नहीं होते हैं। इस अनियमितता से लगभग तीस प्रतिशत तक हानि होती है किन्तु अल्फांसो किस्म में 35-55 प्रतिशत तक हानि हो सकती है। बागों की स्थिति, पौधे की उम्र, किस्म, मौसम, फल तोड़ने की अवस्था, फल की परिपक्वता, मिट्टी तथा वातावर्णीय परिस्थितियों जैसी अनेक परिस्थितियों पर हानि निर्भर करती है। रत्नागिरी जिले में स्पंजी ऊतक के कारण फलों के निचले भाग में 65 प्रतिशत तथा उपरी भाग में 4.7 प्रतिशत तक हानि पायी गयी है।

लक्षण

सबसे पहले यह विकार आम की अल्फांसो किस्म में देखा गया। तुड़ाई के समय या पकने के

बाद फलों पर कोई बाह्य लक्षण नहीं दिखायी देता है। फलों को जब लंबाई में काटा जाता है तो पीले रंग के गूदे के साथ मुलायम या स्पंजी ऊतक, वायु कोठकों सहित या बिना वायु कोठकों के दिखायी देते हैं तथा इसमें दुर्गन्ध भी आती है। साधारणतः फलों में तीन प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं।

- फलों में अंदर सभी भागों पर धब्बे पाये जाते हैं। अधिक धब्बे होने पर गूदा असाधारण रबड़ जैसा सख्त एवं हल्के पीले रंग, कम रस वाला तथा स्वाद में अम्लीय हो जाता है तथा इसे गूदे से आसानी से अलग किया जा सकता है।
- गुठली के आसपास के गूदे का रंग भूरा हो जाता है, खासकर संवहनीय ऊतकों का। यह धीरे-धीरे बाहर की तरफ फैलता है तथा फल के करीब आधे भाग को ग्रस्त कर देता है।
- शीत भंडारण के दौरान प्रभावित फलों की गुठलियों के चारों ओर ऊतक विघटन होता है। प्रभावित गूदे का रंग हल्का पीला हो जाता है तथा मुलायम चमड़े जैसा या स्पंजी प्रकृति का हो जाता है जो वायु कोष्ठक सहित या उसके बिना हो सकता है। इससे दुर्गन्ध भी निकलती है।

प्रबंधन

- आम के स्पंजी ऊतकों की अनियमितता को रोकने हेतु कोई विधि ज्ञात नहीं है।
- आम के गूदे में पायी जाने वाली इस अनियमितता की पहचान आप्टिकल घनत्व की दो तरंगधैर्यों की विभिन्नताओं से सम्भव है, जैसे सेब में जलीय सारभार, काला मध्य रोग तथा अंडों में खून की पहचान की जाती है।

पोषक तत्व की कमी

आंतरिक विगलन

कारक

बोरान की कमी

लक्षण

यह अनियमितता किसी रोग के कारण नहीं होती है तथा कोयलिया या इससे मिलते-जुलते लक्षण से भिन्न होती है। सर्वप्रथम फलों के नीचे का आधा भाग गहरे हरे रंग का हो जाता है। शीघ्र ही बीज या गुठली के मजबूत होने से पूर्व गुठली तथा गुठली के नीचे का गूदा (ऊतक) एक छोटे से भूरे रंग का दिखायी देता है। बाद में भूरे धब्बों के ऊतक भूरे काले रंग के हो जाते हैं जो बाद में छिलके की तरफ बढ़ते हैं। इस प्रकार फल के छिलके पर जलसिक्त धब्बे नजर आते हैं। ऐसे फलों के निचले भाग से पीला गोंद जैसा पदार्थ निकलता हुआ दिखायी देता है। गूदे में भूरे धब्बे तथा गहरे भूरे रंग के गोंदीय कोष्ठक बन जाते हैं। गम्भीर अवस्था में प्रभावित फलों का नीचे का आधा भाग लम्बाई में फट जाता है तथा बीज दिखायी देने लगता है। पेड़ में ऐसे लगे हुए प्रभावित फल छूने पर गिर जाते हैं। इस प्रकार के प्रभावित फलों से दुर्गन्ध आती है तथा स्वाद भी खराब हो जाता है।

प्रबंधन

पेड़ों पर सुहागा (10 ग्रा./ली.) का पर्णीय

छिड़काव करना चाहिए या सुहागा (500 ग्रा./पेड़) को मिट्टी में मिलाने से प्रभावी नियंत्रण किया जा सकता है।

जस्ते की कमी

लक्षण

सबसे पहले पौधों के ऊपरी हिस्सों की टहनियों के अग्रस्थ सिरे पर जस्ते की कमी के लक्षण देखे जा सकते हैं। इसमें नयी पत्तियाँ गुलाबी रंग की मोटी हो जाती हैं। परिपक्व पत्तियों का अगला भाग नीचे की तरफ मुड़ जाता है अथवा पत्तियों के किनारे तथा आगे का भाग ऊपर की तरफ मुड़ जाता है। कभी-कभी पत्तियों के अग्रस्थ भाग में घुमाव आ जाता है। पत्तियों की शिराएँ पीली हो जाती हैं तथा ऊपरी सतह पर शिराएँ स्पष्ट दिखायी देती हैं जबकि पर्ण शिराओं के बीच का भाग प्रायः हरे रंग का होता है। कभी-कभी शिराओं के मध्य पत्तियों पर पीले रंग के धब्बे बन जाते हैं जिसके कारण पत्तियाँ धब्बेदार/चित्तीदार दिखायी देती हैं। इस कमी के कारण साधारण पत्तियों की अपेक्षा पत्तियों की लम्बाई-चौड़ाई बहुत अधिक घट जाती है। इससे पत्तियाँ मोटी एवं आसानी से टूटने वाली हो जाती हैं। पर्व तथा पर्वसंधियों के छोटे होने के कारण टहनियों के अग्रस्थ सिरे पर पत्तियाँ झुंड में अधिक संख्या में दिखायी देती हैं।

जस्ते की मध्यम मात्रा की कमी से प्रायः नयी पत्तियों की वृद्धि प्रभावित नहीं होती है, लेकिन अधिक मात्रा की कमी से पत्तियाँ प्रभावित होती हैं। इस दशा में कुछ टहनियों पर उल्टा सूखा बीमारी भी दिखायी देती है। ऐसी दशा लगातार बनी रहने पर पेड़ मर भी जाते हैं।

नर्सरी के नये पौधों के वृद्धि वाले अग्रस्थ भाग प्रायः प्रभावित होते हैं। ऐसे पौधे कमजोर टहनियों के साथ छोटे रह जाते हैं। जब पुष्पकलियाँ इससे प्रभावित होती हैं तो विभिन्न प्रकार की अनियमितताएँ दिखायी देती हैं। पत्तियाँ छोटी-छोटी हो जाती हैं तथा विभिन्न आकार की होती हैं तथा नीचे की तरफ झुक जाती हैं। ऐसे प्रभावित पौधे कमजोर नजर आते हैं तथा फलोत्पादन नहीं करते।

प्रबंधन

- प्रभावित पेड़ों पर वर्ष में दो बार जिंक (जिंक सल्फेट-2 कि.ग्रा., चूना-1 कि.ग्रा. तथा 450 ली. पानी) का छिड़काव कर जिंक की कमी के लक्षण को दूर किया जा सकता है।

ताँबे की कमी

लक्षण

प्रायः इसकी कमी के लक्षण नये पेड़ों पर दिखायी देते हैं जिसमें साधारणतः अधिक नाइट्रोजन युक्त उर्वरकों का प्रयोग किया जाता है। इसके साथ-साथ जिंक की कमी के लक्षण भी पाये जाते हैं। इस प्रकार की कमी के लक्षण उन पौधों मे दिखायी देते हैं जो बलुई जमीन में लगे होते हैं। कमजोर टहनियाँ, अग्रस्थ प्ररोह की पत्त्यिों का गिरना, डाईबैक (उल्टा सूखा) लक्षण तथा शाखाओं का टेढ़ा-मेढ़ा होना स्पष्ट दर्शाता है कि पेड़ को कॉपर ताँबे की आवश्यकता है।

प्रबंधन

- पेड़ के चारों ओर कॉपर सल्फेट (तूतिया) (250 ग्रा. प्रति दस वर्षीय पेड़) डाल कर

गुड़ाई करें। यह भी देखा गया है कि जिन बागों में ऐन्थ्रेक्नोज और अन्य पर्णीय धब्बों की बीमारियों के नियंत्रण हेतु ताम्रयुक्त फफूँदनाशक का छिड़काव किया जाता है उनमें यह कमी स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

पेड़ों का पतन

लक्षण

उत्तरी भारत में आम के पेड़ों के पतन की समस्या प्रारम्भ हो गयी है। मध्य उत्तर प्रदेश में जहाँ-तहाँ आम के पेड़ पतन से ग्रस्त मिलते हैं। प्रायः पुराने पेड़ों में पतन के लक्षण दिख जाते हैं। प्रारंभ में पुरानी पत्तियों में लक्षण दिखायी देते हैं जिसमें ऊतक मृतप्राय हो जाते हैं। पत्तियों के अगले सिरे तथा किनारे पर अनियमित/भूरे रंग के ऊतकक्षयी धब्बे बन जाते हैं तथा रोग की अधिकता में सम्पूर्ण पत्तियाँ इससे प्रभावित होती हैं। नयी पत्तियाँ निकलने के 2-3 माह तक प्रभावित नहीं होती हैं। बाद में धीरे-धीरे ऊपरी टहनियाँ सूखने लगती हैं तथा बाद में बड़ी-बड़ी शाखाएँ इससे प्रभावित होती हैं। प्रभावित पेड़ों में कम घनापन और पत्तियों में कम हरापन होता है जिससे पेड़ बीमार दिखायी देते हैं।

प्रबंधन

- पेड़ों के मरने के अनेक जैवीय कारण हो सकते हैं। नियमित मात्रा में सूक्ष्म तत्व मुख्यतः कॉपर सल्फेट (1%) तथा बोरान (0.5%) के उर्वरकों का प्रयोग कर इस अनियमितता को रोका जा सकता है।
- अधिक सिंचाई कर लवण की सांद्रता को कम किया जा सकता है तथा समस्या का निदान किया जा सकता है।

अधिक लवण से हानि

लक्षण

पत्तियों के अग्र भाग का सूखना तथा पत्तियों के मध्य में अनियमित सूखे ऊतकक्षयी धब्बे दिखायी पड़ना इसके लक्षण हैं। इन धब्बों पर अल्टरनेरिया, पेस्टेलोसिया एवं अन्य फफूँद विकसित होते हैं। अग्रिम सिरे से पत्तियों के सूखने का कारण ज्ञात नहीं है लेकिन पेड़ों पर लवणीय छिड़काव एवं लवणीय सिंचाई करने से पत्तियों के अग्रस्थ सिरे सूखने लगते हैं। अन्य कारक जैसे सूखे से नमी की कमी, मिट्टी में अधिक लवण की मात्रा एवं जड़ तन्त्र में नुकसान इस समस्या के कारण हो सकते हैं।

प्रबंधन

- बागों के पेड़ों के बीच रिक्त भाग में ढ़ैंचा (हरी खाद) लगाना एवं जुताई कर मिलाना लाभकारी होता है।
- पेड़ के चारों तरफ थालों में जिप्सम (50 कि.ग्रा. प्रति 50-80 वर्ष के वृक्ष हेतु) का प्रयोग करने की संस्तुति की गयी है।
- बागों में गोबर तथा कम्पोस्ट खाद का प्रयोग प्रति वर्ष करना चाहिए।

लीची का दैहिक विकारों से बचाव

राजेश कुमार[1]
राष्ट्रीय लीची अनुसंधान केन्द्र, मुजफ्फरपुर

लीची भारत की एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक फसल है। लोकप्रियता के आधार पर रंगीन एवं रसभरी लीची को फलों की रानी भी कहा जाता है। यह एक विशिष्ट जलवायु पसंद फसल है और इसके फलों की उत्पादकता एवं गुणवत्ता वातावरण के अनेक घटकों पर निर्भर करती है। इसके अलावा उत्तम औद्यानिक क्रियाओं के आभाव में इसकी सफल बागवानी में अनेक तरह की बाधाएँ आती हैं और दैहिक विकार तथा कीट एवं व्याधि के बढ़ते प्रकोप से उत्पादन में ह्रास होता है। फलस्वरूप व्यावसायिक उत्पादन में कमी आने के कारण उत्पादकों को आर्थिक हानि का सामना करना पड़ता है। लीची के गुणवत्तायुक्त उत्पादन को प्रभावित करने वाले विकारों में अनियमित फलन एवं अफलन, फूल एवं फल का झड़ना, फटना, झुलसना, अविकसित एवं विकृत फल, कोयलिया विकार आदि मुख्य हैं। लीची के ये दैहिक विकारों का प्रकोप एवं तीव्रता किस्म विशेष, वृक्ष की उम्र एवं संरचना एवं मौसम पर निर्भर करती है जिसकी जानकारी अत्यन्त ही आवश्यक है।

अनियमित फलन एवं अफलन की समस्या

यह समस्या लीची उत्पादन क्षेत्रों में अत्यन्त ही गंभीर है। फल धारण की क्षमता मुख्यतया किस्मों की प्रकृति पर निर्भर करती है जबकि कुछ किस्मों में चालू वर्ष के फलत डंठलों में उत्पादन क्षमता अगले वर्ष में बहुत अधिक होती है। डंठलों के मंजरित होने की अवस्था, उसके बारंबारता पर निर्भर नहीं कर मुख्यतः विगत वर्ष के फलन या अफलन पर भी निर्भर करती है। उचित प्रबंधन के अभाव से भी लगातार फलने वाली किस्मों में अफलन पैदा हो जाता है। गलत प्रबंधन तकनीकों में खाद एवं उर्वरकों (विशेषकर नाइट्रोजनयुक्त) का देर से या असामयिक प्रयोग, मंजर एवं फल लगने के पहले सिंचाई की बारंबारता या अधिकता आदि मुख्य रूप से अनियमित फलन या अफलन को बढ़ावा देते हैं। लीची में अनियमित फलन के लिए आनुवंशिक कारणों से ज्यादा सिंचाई, पोषण और वातावरण के कारक जिम्मेदार हैं। मिट्टी के प्रकार के साथ-साथ अपनाये गये प्रबंधन के तरीकों पर भी इस समस्या की तीव्रता निर्भर करती है। तुड़ाई एवं कटाई-छँटाई की प्रक्रियाओं में की गयी देरी से भी उस चालू वर्ष में अफलन की समस्या आ जाती है।

लक्षण

लीची की कुछ किस्मों में बहुधा अधिक फलन वाले वर्ष के बाद कम फलन या अफलन वर्ष होता है जबकि कुछ किस्मों में प्रत्येक वर्ष अच्छी फलन

[1]प्रधान वैज्ञानिक

होती है। कभी-कभी किसी वर्ष मंजर निकलते समय यदि वानस्पतिक कल्ले निकलने लगते हैं तो वह अफलन वर्ष हो जाता है। यदा-कदा वृक्ष के कुछ भाग में ही लम्बे एवं आधार पर पुष्पन पत्तियाँयुक्त मंजर वाले डंठल निकलते हैं जिसके शीर्ष पर बहुत कम फलन होता है।

प्रबंधन

- नियमित फलन वाली किस्मों का चयन एवं रोपण आवश्यक है। भारत में मुख्यतः शाही, देहरादून एवं रोज सेन्टेड नियमित फलन वाली किस्में हैं जबकि चाइना (कलकतिया), पूर्वी, बम्बई, बेदाना आदि में अनियमित फलन की समस्या होती है।
- लीची के बागानों में उम्रवार आधार पर खाद एवं उर्वरकों द्वारा समुचित एवं संतुलित पोषण तुड़ाई के तुरन्त बाद उचित विधि द्वारा देना आवश्यक होता है। साथ ही वाँछित मात्रा में उचित विधि एवं समय पर सिंचाई करना आवश्यक होता है। लीची के फलों के गूदे के विकास के समय खासकर नमी की पर्याप्त मात्रा का बरकरार रहना आवश्यक है। फसल सुरक्षा के उपायों को अपनाकर हानिकारक कीटों एवं व्याधियों के प्रकोप को नियंत्रित करना आवश्यक है।
- लीची के वृक्षों की फल तुड़ाई के समय या तुड़ाई के तुरन्त बाद कटाई-छँटाई अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे तो फलों के तुड़ाई के समय ही फल के गुच्छों को 8-10 इंच लम्बे डंठल सहित तुड़ाई की जानी चाहिए जिससे उसके बाद स्वस्थ एवं मजबूत कल्ले तुरन्त निकल सकें तथा अगले वर्ष अधिक फलन हो। वृक्षों का वितान प्रबंधन या ढाँचा निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि वितान अर्द्धवृत्ताकार या खुले छतरी के आकार का हो।

फूल एवं फलों का झड़ना

अधिक पुष्पन के बाद गलत प्रबंधन विधि एवं प्रतिकूल वातावरण के कारण भी फूल के झड़ने एवं फल कम लगने की समस्या आ जाती है। लीची में फूल एवं फल लगने की शुरूआती अवस्था में प्रतिशतता बहुत अधिक होती है जबकि उसका बहुत ही कम प्रतिशत भाग परिपक्वता तक पहुँचता है। फल झड़ने की शुरूआत फल लगने के तुरन्त बाद से शुरू होती है और फल पकने तक बरकरार रहती है। फल झड़ने की रफ्तार दो अवस्था में ज्यादा देखी गयी है एक तो परागण एवं निषेचण की प्रक्रिया सही नहीं होने पर एवं दूसरी फल लगने के बाद जब फलों के बीज एवं गूदे का विकास हो रहा होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। आंतरिक कारणों में मुख्य रूप से निषेचन की क्रिया का पूरा न होना, भ्रूणपात होना एवं हार्मोन का असंतुलन तथा बाह्य कारणों में खनिज पोषण की कमी, उच्च तामपान का प्रभाव, मिट्टी में नमी की कमी, कम आर्द्रता, तेज हवा और कीट एवं व्याधियों का प्रकोप मुख्य हैं।

लक्षण

मंजर के डंठलों पर अनेक अवस्थाओं में फूल निकलते हैं। पुष्पन के कुछ दिनों बाद नर फूलों के

झड़ने की शुरूआत होती है और फिर परागण की प्रक्रिया के बाद फल लगने से लेकर फल पकने तक विभिन्न अवस्थाओं में फलों का झड़ना बरकरार रहता है। ज्यादातर फल झड़ने से मंजर की डंठल पर कुछ फल या एकदम नहीं लगते हैं और मंजर की डंठलें सूखी लम्बी तिल्लियों वाली झाड़ू की तरह देखी जा सकती हैं।

प्रबंधन

- लीची में मधुमक्खी द्वारा मुख्य रूप से परागण होता है। अधिक संख्या में मधुमक्खियों के भ्रमण से परागण एवं निषेचण की बेहतर प्रक्रिया में बढ़ोतरी से फल धारण क्षमता बढ़ती है। पुष्पन की अवस्था में कीटनाशी या अन्य छिड़काव वर्जित है।
- मंजर निकलने के संभावित समय (फरवरी माह) से एक माह पहले जिंक सल्फेट (0.2%) का पर्णीय छिड़काव करने से मंजर पुष्ट एवं मादा फूलों की संख्या अधिक होती है। फल के विकास के क्रम में गूदे बनने की शुरूआत के समय बोरान (0.2%) का पर्णीय छिड़काव (7-8 दिन के अन्तर पर दो बार) तथा जड़ विन्यास क्षेत्र में नमी सुनिश्चित करना चाहिए।
- जैव वृद्धि नियामकों (एन.ए.ए.-20 पी.पी.एम. या प्लैनोफिक्स-2 मि.ली./5 ली. या जिब्रेलिक अम्ल-20-25 पी.पी.एम. या 2, 4-डाइक्लोरोफिनोक्सी एसीटीक अम्ल-10-20 पी.पी.एम.) का घोल बनाकर फल के मटर के दाने के आकार की अवस्था में छिड़काव करने से फल के झड़ने में कमी होने के कारण फल धारण क्षमता एवं गुणवत्तायुक्त फलन में बढ़ोतरी होती है।
- जाड़े में निकलने वाले वानस्पतिक कल्लों के विकास पर रोक लगाकर फल धारण क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। फल तुड़ाई के तुरन्त बाद की गयी वाँछित कटाई-छँटाई एवं सधाई प्रक्रिया से पुष्ट एवं स्वस्थ कल्लों के विकास होने से पुष्पन-फलन (पुष्पन क्षमता एवं मादा फूलों की संख्या) बढ़ती है।

फल फटना

तुड़ाई पूर्व उत्पन्न होने वाले विकारों में फल फटने की समस्या के कारण लीची के गुणवत्तायुक्त उत्पादन एवं उपज में भारी कमी आ जाती है। फल फटने की समस्या फल विकास के अंतिम चरण में उत्पन्न होती है जबकि फलों में गूदे का विकास तेजी से हो रहा होता है। फल के छिलके का फटना, गूदे एवं छिलके के विकास में असंतुलन होने के कारण होता है। आंतरिक गूदे के विकास द्वारा बाहरी छिलके पर दबाव उत्पन्न होता है और बाहरी प्रतिकूल वातावरण एवं आंतरिक छिलके की दैहिक असामंजस्य के कारण कोशिकाओं का फैलाव एवं विभाजन सही नहीं होने से छिलका दबाव सहन नहीं कर पाता और फट जाता है। इसके कारण लीची के उत्पादन में 5-70 प्रतिशत तक क्षति आँकी गयी है। इसके अलावा फल के विकास के क्रम में पोषण या नमी की कमी भी छिलके की बढ़वार, गूदे के विकास की अपेक्षाकृत कम होने के कारण फल पकने के पहले छिलके फट जाते हैं। फल फटने की समस्या भूमि एवं वातावरण में नमी के असंतुलन होने पर भी

होती है। साथ ही तेज शुष्क गर्म हवाओं के बहने से छिलके की बाहरी परत सूखने के कारण फटने की समस्या आती है। वृद्धि नियामकों के असंतुलन या कमी होने से भी फल फटने की समस्या दर्ज की गयी है। लीची की कुछ किस्मों में फल फटने की समस्या का आनुवंशिक कारण बताया जाता है। वातावरण के कारणों में तापमान, आपेक्षिक आर्द्रता, वर्षा और हवाओं की दिशा फल फटने की समस्या से जुड़े हुए पाये गये हैं। फल फटने की समस्या ज्यादातर फलों में रंग बदलने की अवस्था में होती है। जिस समय गूदे का विकास अपने उत्कर्ष पर होता है उस समय यदि वातावरण में तापमान में वृद्धि, तेजी एवं स्थिरता तथा आपेक्षिक आर्द्रता में कमी होने पर छिलका सूखने से फल फटने की समस्या तीव्र हो जाती है। उचित प्रबंधन के अभाव वाले बगीचों में शुष्क वातावरण में अचानक हुई वर्षा से या अधिक सिंचाई कर देने पर वातावरण में तापमान एवं आर्द्रता के असंतुलन से फल फटने की समस्या तीव्रतम पायी गयी है। पोषक तत्वों की कमी भी इस विकार को प्रभावित करती है। छिलके पर कीड़ों द्वारा किया गया घाव या अन्य कोई चोट भी इस विकार के उत्पन्न होने में सहायक होती है।

लक्षण

फल में फटाव छोटे आकार से लेकर सम्पूर्ण फल के लम्बाई लिए हुए होता है। जैसे ही अन्दर का गूदेदार भाग बाहर के वातावरण में आता है सड़ने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। सतह पर यह फटाव फल के लम्बाई की ओर या गोलाई पर हो सकता है। फटे फल तेजी से खराब होने लगते हैं और इस पर द्वितीयक के रूप में कीट एवं व्याधियों का प्रहार/प्रकोप शुरू हो जाता है जिससे फल विपणन योग्य नहीं रहते एवं उत्पादकों को भारी नुकसान होता है।

प्रबंधन

- कैल्सियम, जिब्रेलीन आदि के प्रयोग से सेलूलोस की क्रियाशीलता कम होने के कारण सतही दरार में कमी आती है। दूसरे वृद्धि नियामक जैसे 2, 4-डी या एन.ए.ए. का 20 मि.ग्रा./लीटर सांद्रता में छिड़काव भी काफी प्रभावकारी होता है।
- जड़ विन्यास क्षेत्र में पर्याप्त नमी की अवस्था को कायम रखते हुए बोरान का छिड़काव बोरेक्स या बोरिक अम्ल (2 ग्रा./लीटर) के रूप में गूदे के विकास के शुरूआत में करने से फल फटने की समस्या में कमी आती है।
- भूमि में नमी की उपलब्धता 40 प्रतिशत से कम होने पर सिंचाई करते रहने पर फल फटने की समस्या कम होती है।
- फल फटने की समस्या के प्रति एक प्रतिरोधी विकसित किस्म स्वर्णरूपा को समस्या वाले क्षेत्र में लगाना चाहिए।
- हवा अवरोधी वृक्षों को (उत्तर पूर्वी भागों में) लगाकर इस विकार को बहुत हद तक नियंत्रित किया जा सकता है।

फल का झुलसना

लीची उत्पादन के क्षेत्र में फल का झुलसना या भूरा धब्बेदार होना एक गंभीर समस्या है जिससे

लीची व्यवसाय में हानि होती है। इस विकार के उत्पन्न होने में वातावरण के कारकों के अलावा किस्म, हार्मोन, पोषण, मृदा की नमी आदि कारकों का सह-संबंध पाया गया है। बलुई या बलुई दोमट मिट्टी में लगे लीची के बागों में प्रबंधन का अभाव होने के साथ-साथ यदि वातावरण में अधिक तापमान (40^0 से.ग्रे. से ज्यादा) एवं शुष्कता (आ.आ. 50% से कम) हो जाने पर इस विकार की समस्या तीव्र हो जाती है। सिंचाई की अव्यवस्था एवं वर्षा की फुहार के कारण छिलके पर बूंदों का जमा रहना भी इस विकार को बढ़ाने में सहायक होता है। यह समस्या उत्तर पूर्वी हिस्से की अपेक्षा दक्षिणी-पश्चिम भाग में ज्यादा तीव्र होती है।

लक्षण

हल्का भूरा धब्बा फल के छिलके के कुछ भाग में उत्पन्न होना जिस पर सूर्य की सीधी तेज रोशनी पड़ रही हो, फल को झुलसना दर्शाता है। छिलके का आधे से अधिक भाग धब्बेदार, हल्का भूरा या बदरंग हो जाता है जिससे फल विपणन योग्य नहीं रह जाता है।

प्रबंधन

- भूमि में नमी की पर्याप्त उपलब्धता, विशेष रूप से फल के विकास के क्रम में (गूदे के विकास के समय) रहने पर फल झुलसने की समस्या कम होती है।
- हवा अवरोधी वृक्षों को उत्तर पूर्वी भागों में लगाकर इस विकार को बहुत हद तक नियंत्रित किया जा सकता है।

अविकसित एवं विकृत फल

अविकसित फलों का होना उचित परागण एवं निषेचण का अभाव मुख्य रूप से जिम्मेदार है। इसके अलावा भौतिक झकझोर तथा कीट एवं व्याधियों का प्रकोप भी अविकसित/विकृत फलों के बनने में सहायक होता है। साथ ही फल के विकास की अवस्थाओं में नमी की कमी भी एक कारण है।

लक्षण

इसमें फलों का आकार सामान्य से छोटा तथा रस एवं गूदे की मात्रा कम बनती है। इस तरह के फलों का रंग भी शुरूआत से ही हरितायुक्त पीला एवं चमकीला रहता है जो बाद में हल्के लाल रंग का हो जाता है और परिपक्वता से पहले ही फल झड़ना प्रारम्भ हो जाता है। फल के विकास में गूदे का विकास नहीं के बराबर होता है तथा अविकसित अल्प गूदे के कारण भ्रूण (बीज) का कुछ भाग खुला ही रहा जाता है।

प्रबंधन

- पोषण प्रबंधन एवं पर्याप्त नमी की अवस्था (गूदे के विकास के समय) सामान्य एवं गुणवत्तायुक्त स्वस्थ फलों के बनने में सहायक होती है।
- पुष्पन एवं फल लगने के समय पर्याप्त संख्या में परागण कीट (मधुमक्खियों) का भ्रमण कराकर बेहतर परागण एवं निषेचन द्वारा सामान्य एवं गुणवत्तायुक्त स्वस्थ फलों का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

- फल के विकास के क्रम में (गूदे के विकास के समय) सुबह के समय सामान्य जल का छिड़काव काफी लाभप्रद होता है। इसके अलावा स्प्रिंकलर (छिड़काव) प्रणाली द्वारा सिंचाई की व्यवस्था भी इस विकार को बहुत हद तक नियंत्रित कर देती है।

कोयलिया विकार या फल शीर्ष काला धब्बा रोग

आबादी वाले क्षेत्रों के समीप लीची के बागों में यह समस्या पायी गयी है। साथ ही उचित प्रबंधन का अभाव भी मुख्य रूप से जिम्मेदार है। इसके अलावा फल के विकास की अवस्थाओं में नमी की कमी भी एक कारण है।

लक्षण

इसमें फलों के शीर्ष पर काला धब्बा बन जाता है और इस तरह के फलों का विकास भी शुरूआत से ही धीमा रहता है जो बाद में सड़न पैदा करता है और परिपक्वता से पहले ही फल झड़ना प्रारंभ हो जाते हैं।

प्रबंधन

- पोषण प्रबंधन एवं पर्याप्त नमी की अवस्था (गूदे के विकास के समय) आवश्यक है।
- फल के विकास के क्रम में (गूदे के विकास के समय) सुबह के समय सामान्य जल का छिड़काव काफी लाभप्रद होता है। इसके अलावा मंजर निकलने के संभावित समय (फरवरी माह) से एक माह पहले जिंक सल्फेट (0.2%) एवं फल के विकास के क्रम में गूदे बनने की शुरूआत के समय बोरान (0.2%) का पर्णीय छिड़काव (7-8 दिन के अन्तर पर दो बार, जड़ विन्यास क्षेत्र में नमी सुनिश्चित कर) इस विकार को बहुत हद तक निंयत्रित कर देता है।

फल फटने की समस्या

फल झुलसने की समस्या

अमरूद के बागों को रखें कीट एवं बीमारियों से मुक्त

दीपक कुमार जैन[1] एवं आनन्द सिंह जोधा[2]
विद्या भवन कृषि विज्ञान केन्द्र, बड़गाँव, उदयपुर

विश्व में फल उत्पादन में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है। भारत में आम, केला तथा नीबू वर्गीय फसल के बाद अमरूद चौथी मुख्य फसल है। अमरूद भारत में लगभग सभी स्थानों पर पैदा की जाती है। इसकी पैदावार मुख्य रूप से बिहार, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु तथा राजस्थान में की जाती है। भारत में इसे लगभग 150.9 हेक्टेयर में पैदा किया जाता है जिसका उत्पादन लगभग 1710.5 मिलियन टन है। गृह वाटिका में भी अमरूद को स्थान दिया जाता है। जिस तरह बकरी को 'गरीब की गाय' कहा जाता है, उसी तरह अमरूद को 'गरीब का फल' भी कहा जाता है। इसका फल मीठा, मधुर, सुगंध वाला, पाचक एवं स्वादिष्ट होता है। इसके फलों में प्रचुर मात्रा में विटामिन सी पाया जाता है। फलों को ताजा खाने के अलावा इसे जैली बनाने में भी प्रयोग किया जाता है। अमरूद के सफल उत्पादन में कीट एवं बीमारियाँ प्रमुखता से रुकावट पैदा करते हैं, अतः किसानों को चाहिए कि वे समय रहते फसल की कीटों एवं बीमारियों से सुरक्षा कर अच्छा उत्पादन प्राप्त करें। अमरूद में लगने वाले प्रमुख हानिकारक कीट एवं बीमारियाँ निम्नलिखित हैं।

प्रमुख कीट

फल मक्खी (फ्रूट फ्लाई)

यह मक्खी बरसात के फलों को विशेष रूप से हानि पहुँचाती है। यह फलों के अन्दर अंडे देती है, जिनसे बाद में लटें (मैगट्स) निकलती हैं जो फल के अन्दर गूदा को खाने लगती हैं। फलों में किण्डवन (फरमनटेशन) होने से गूदा सड़ जाता है जिससे प्रभावित फल भी पकने से पूर्व नीचे गिर जाता है।

रोकथाम

- प्रभावित फलों को इकट्ठा कर भूमि में गहरा गाड़ें अथवा नष्ट कर दें।
- 1 मि.ली. मेलाथियान 50 ई.सी. या मिथाइल डिमेटान 25 ई.सी. को प्रति लीटर पानी के हिसाब से मार्च, अप्रैल, मई, जून, सितम्बर तथा अक्टूबर में छिड़काव करें।
- 1 लीटर पानी में 100 ग्राम चीनी तथा 10 मि. ली. मेलाथियान मिलाकर इसे 100 मि.ली. प्रति बोतल की दर उन्हें जगह-जगह पेड़ों पर लटका दें।

[1]कीट वैज्ञानिक एवं [2]उद्यान वैज्ञानिक

- फल मख्खी को अमोनिया से बनी ल्यूर एवं आइसो यूजिनोल नामक रसायन आकर्षित करते हैं। अतः इन्हें कीटनाशी के साथ मिलाकर कीटों को नष्ट किया जा सकता है।

गुजिया (मिली बग)

इस कीट की ऊपरी सतह मोम जैसी होती है इस कारण इन पर रसायनों का असर बहुत धीरे-धीरे होता है। इस कीट के निम्फ तथा वयस्क दोनों ही कोमल शाखाओं, पत्तियों व पंखुड़ियों से चिपककर रस चूसते हैं, जिससे पौधा पीला पड़ने लगता है। पत्तियाँ मुरझाकर सूख जाती हैं। अधिक प्रकोप होने पर फूल भी कम आते हैं तथा फल भी कम बनते हैं। यह कीट एक लसलसा मीठा पदार्थ उत्सर्जित करता है जिससे कवक (फफूंद) का आक्रमण भी शुरू हो जाता है। इस कीट का प्रकोप फरवरी-मार्च तक पाया जाता है।

रोकथाम

- बगीचों में साफ-सफाई का पूर्णतया ध्यान रखें। प्रमुख खरपतवारों एवं गाजर घास को उखाड़कर नष्ट कर दें।
- पेड़ के आसपास की जगह साफ रखें तथा सितम्बर तक थाले की मिट्टी को प्रतिमाह पलटते रहें, जिससे कीट के अण्डे बाहर आकर नष्ट हो जायें।
- 50 से 100 ग्राम क्यूनालफास (1.5%) चूर्ण को प्रति पेड़ के हिसाब से थाले में 15-20 से. मी. गहराई में मिलायें।
- शिशु कीटों को पेड़ पर चढ़ने से रोकने के लिए नवम्बर माह में पॉलीथीन (400 गेज) की 30-40 से.मी. चौड़ी पट्टी तने के चारों ओर लगायें तथा इससे नीचे 15-20 से.मी. भाग तक ग्रीस का लेप कर दें।
- यदि फिर भी मिली बग चढ़ गई हो तो 1 मि. ली. मोनोक्रोटोफास 36 एस.एल. तथा 1 मि. ली. डी.डी.वी.पी. प्रति लीटर पानी के हिसाब से मिलाकर छिड़कें या 1.5 मि.ली. डायमेथोएट 30 ई.सी. या 1.5 मि.ली. प्रोफेनोफास या 1 मि.ली. फैन्थियान प्रति लीटर पानी के हिसाब से घोल बनाकर छिड़कें।
- 5 मि.ली. नीम तेल प्रति लीटर पानी के साथ 2 मि.ली. ट्राइजोफोस मिलाकर छिड़कना भी लाभप्रद रहता है।
- निकोटिन सल्फेट पाउडर (1:6000) के अनुपात में घोल बनाकर छिड़कें।

छाल भक्षक

इस कीट की लटें (इल्लियाँ) अमरूद की छाल, शाखाओं या तनों में छेद कर अन्दर छिपी रहती हैं। रात्रि में ये इन छिद्रों से निकलकर पौधों की छाल को खाकर क्षति पहुँचाती हैं। ये रेशमी धागों से जुड़े या लकड़ी के टुकड़ों एवं अपने मल से बने रक्षक आवरण के नीचे खाती हुई टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बनाती हैं। अधिकांशतः यह रास्ते छिद्र के नीचे की तरफ होते हैं। एक छिद्र में एक इल्ली या लट पायी जाती है। छोटे पौधे में प्रकोप होने से पौधा बीमार दिखायी देता है और बढ़वार रुक जाती है व शाखाएँ कमजोर

होकर टूटकर गिर जाती हैं।

रोकथाम

- कटी-फटी छाल या ढीली छाल को हटा दें ताकि व्यस्क बीटल अण्डे न दे पायें या सूखी एवं ग्रसित शाखाओं को काटकर जला दें।
- कीट का प्रकोप दिखायी देने पर छिद्रों में 3-5 मि.ली. कैरोसिन या पेट्रोल या क्लोरोफार्म प्रति छिद्र में पिचकारी या सूई की सहायता से डालें या उसका फाहा बनाकर अन्दर डाल दें एवं छिद्र को गीली मिट्टी लगाकर बन्द कर दें या 5 ग्राम कार्बोफ्यूरान 3 जी प्रति छिद्र में डालकर बन्द कर दें या सल्फास (एल्युमिनियम फासफाइड) की 1 गोली (3 ग्राम) प्रति छिद्र डालकर बन्द कर दें।
- शाखाओं पर 2 मि.ली. मिथाइल पेराथियान 50 ई.सी. प्रति लीटर पानी का घोल बनाकर छिड़काव करें।
- कम छिद्र हों तो लोहे के तार से ही छिद्र में लट को मार दें।
- अधिक आक्रमण होने पर कॉपर ऑक्सीक्लोराइड (सी.ओ.सी.) घोल का लेप तने के चारों ओर कर दें। 20 ग्राम कार्बेरिल 50 डब्ल्यू.पी. प्रति लीटर के हिसाब से तने की 3 फुट की ऊँचाई तक छिड़काव करें।

प्ररोह एवं फल बेधक

इस कीट की इल्लियाँ अमरूद के फल, कलियों एवं प्ररोहों को क्षति पहुँचाती हैं। अण्डों से निकलने के बाद यह फलों के गूदे, बीज, कलियों एवं प्ररोहों के मुलायम उतकों को खाकर क्षति पहुँचाती हैं। क्षतिग्रस्त फलों से यह अपना मल निकालती हैं जिससे फलों में सड़न पैदा हो जाती है। उनका बाजार मूल्य भी कम हो जाता है। क्षति ग्रस्त प्ररोह एवं कलियाँ भी मुरझाकर सूख जाती हैं। कभी-कभी फल भी पकने से पूर्व गिर जाते हैं।

रोकथाम

- उद्यान को खरपतवार से मुक्त रखें। क्षतिग्रस्त भाग को नष्ट कर दें।
- 1 मि.ली. मेलाथियान 50 ई.सी. प्रति लीटर पानी में घोलकर प्रथम छिड़काव फूल आते समय तथा फल बनते समय करें।
- रात्रि में एक लाईट ट्रेप प्रति हेक्टेयर लगायें।

अनार की तितली

इस कीट की लटें फल के गूदों में अंदर घुसकर उसे खाती हैं। गूदे के अलावा यह बीजों को भी खा जाती हैं। क्षतिग्रस्त फलों में बदबू आने लगती है तथा फल पकने से पूर्व ही गिर जाते हैं। लटों के घुसने के स्थान पर फल अंदर की तरफ दबा हुआ मालूम पड़ता है।

रोकथाम

- ग्रसित फलों को नष्ट कर दें एवं बगीचों को खरपतवार से मुक्त रखें।
- गर्मियों में खुदाई अथवा गुड़ाई करें ताकि प्यूपा बाहर आ जाये।

- 2 मि.ली. मेलाथियान प्रति लीटर पानी में मिलाकर पहला छिड़काव फूल बनते समय तथा अगला फल बनते समय करें।
- फूल आने वाली अवस्था पर 2 मि.ली. नीम उत्पाद प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें।

प्रमुख बीमारियाँ

म्लानि या उकठा (मुरझान, सूखा या विल्ट)

इस रोग के लक्षण दो अवस्था से दिखायी पड़ते है।

आंशिक मुरझानः इसमें पौधे की एक या अधिक मुख्य शाखाएँ रोग ग्रस्त होती हैं और अन्य शाखाएँ स्वस्थ दिखायी देती हैं। ऐसे पौधों की पत्तियाँ पीली पड़कर झड़ने लगती हैं। रोग ग्रस्त शाखाओं पर फल छोटे एवं भूरे सख्त हो जाते हैं।

पूर्ण मुरझानः इस अवस्था में रोग का प्रकोप पूरे पेड़ पर होता है और वह शीघ्र सूख जाता है। रोग अगस्त से अक्टूबर माह में उग्र रूप धारण कर लेता है।

रोकथाम

इस रोग का प्रभावी नियंत्रण कठिन है। फिर भी कुछ सावधानियाँ रखें।

- 1 ग्राम बेविस्टीन प्रति लीटर पानी की दर से घोल बनाकर 20-30 लीटर घोल प्रति पेड़ अथवा आवश्यकतानुसार मृदा का सिंचन (ड्रेन्चिंग) करने से लाभ होता है।
- रोग आगे नहीं फैले इस हेतु ग्रसित पौधे को जड़ सहित उखाड़कर नष्ट कर देना चाहिए एवं उस स्थान पर नया पौधा लगाने से पूर्व मृदा का उपचार बेविस्टीन (1 मि.ली./लीटर) के घोल से करें।
- प्रतिरोधी मूलवृन्त सीडीयम कुजेबिलिस का उपयोग करने पर पैदावार बढ़ती है एवं रोग से बचाव सम्भव है।

फल सड़न

यह रोग वर्षा ऋतु की अमरूद फसल में ज्यादा होता है। आरम्भ में फलों पर भूरे रंग के धब्बे बनते हैं एवं बाद में बढ़कर फलों को सड़ा देते हैं। वातावरण में नमी होने पर रोग ग्रस्त फलों पर कवक की सफेद वृद्धि स्पष्ट दिखायी देती है।

रोकथाम

- 2 ग्राम मेन्कोजेब (एम-45) प्रति लीटर पानी में घोलकर 3 छिड़काव 15 दिन के अन्तराल में करें। रोग ग्रस्त बाग या उद्यान में 2 छिड़काव वर्षा आने से पहले करें।

श्याम वर्ण (एन्थ्रेकनोज)

इस रोग का भी प्रकोप वर्षा ऋतु में अधिक रहता है। ग्रसित फलों पर काली चित्तियाँ पड़ जाती हैं और उनकी वृद्धि रुक जाती है। ऐसे फल पेड़ पर लगे रहते हैं और सड़ जाते हैं। रोगग्रसित कच्चे फल सख्त एवं कार्क नुमा हो जाते हैं। पेड़ के सिरे से रोगी कोमल शाखाएँ नीचे की तरफ सूखने लगती हैं। ऐसी शाखाओं की पत्तियाँ झड़ने लगती हैं और

उनका रंग भूरा हो जाता है।

रोकथाम

- सूखी टहनियों को काट देना चाहिए और इसके पश्चात मेन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोलकर फल आने तक 15 दिन के अन्तराल पर छिड़काव करें।

जस्ते की कमी

इस सूक्ष्म तत्व की कमी से पत्तियाँ अत्यधिक छोटी व चर्मिल हो जाती हैं। पत्तियों की शिराओं के मध्य का भाग पीला पड़कर ताम्र हो जाता है। रोग ग्रस्त पेड़ों की बढ़वार रुक जाती है और यह ऊपर से नीचे की ओर सूखकर मरने लगते हैं एवं फल भी सख्त हो जाते हैं।

रोकथाम

- अप्रैल व जून माह में 6 ग्राम जिंक सल्फेट तथा 4 ग्राम बुझा हुआ चूना 1 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करने से जस्ते की कमी दूर की जा सकती है।

कृषि कार्य में कवकनाशी प्रतिजैविकी का उपयोग

ए.के. भट्टाचार्जी[1] एवं डी.के. शुक्ल[2]
केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

सर्वप्रथम 1952 में संयुक्त राज्य अमेरिका में स्ट्रैप्टोमाइसिन का नाशपाती के फायर ब्लाइट के रोकथाम हेतु सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। स्ट्रैप्टोमाइसिन या स्ट्रैप्टोमाइसिन एवं टेरामाइसिन का मिश्रण पौधों को केवल जीवाणु से होने वाले रोगों से बचाता है जबकि बाद में खोजे गये साइक्लोहेक्सिीमाइड व ग्रीसीओफॉल्विन का फफूँदनाशक प्रभाव भी होता है। प्रतिजैविकी का कृषि कार्य में उपयोग उनके महँगे होने के साथ-साथ व्यापक रूप में कीटनाशियों की उपलब्धता के कारण सीमित था।

परिवेश को प्रदूषण-मुक्त रखने के लिये उन्नीसवीं सदी के चालीस और पचास के दशक में कुछ ऐसे सक्रिय प्रतिजीवाणुओं का आविष्कार हुआ जो बहुत से पादपरोग जनक फफूँदों एवं जीवाणुओं को मारने में सक्षम थे। इन प्रतिजैविकों का एक विशेष गुण यह है कि इनका कार्य बहुत ही चयनात्मक होता है। कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले ज्यादातर प्रतिजैविक सर्वांगी होते हैं एवं कुछ प्रतिजैविक को छोड़कर बाकी सभी स्तनधारी जानवरों के लिये विषाक्त नहीं होते हैं। वर्तमान में आविष्कृत प्रतिजैविकों की संख्या सैकड़ों में है जिनमें से पादप रोगों को नियंत्रित करने वालों की संख्या पचास के करीब है।

पर्यावरण संरक्षण पर जोर देने के कारण ऐसे प्रतिजैविकों का आविष्कार हुआ जो जैविक व अजैविक कारकों से निष्क्रिय यौगिक में बदल जाते हैं जिसके कारण ये पर्यावरण में स्थायी नहीं रह पाते और इनका बहुत ही कम अवशेष बचता है।

फफूँदनाशक प्रतिजैविकों का प्रयोग

फफूँदनाशक प्रतिजैविक साइक्लोहेक्सिमाइड का सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका में 1948 में एक्टिडियोन के नाम से प्रयोग हुआ था। चूहों पर इसकी एल.डी.$_{50}$ 2.5 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम है। हालाँकि बहुत से पौध रोगकारी फफूँद के प्रति यह कारगर है किन्तु इसका प्रयोग पौधों और स्तनधारियों के प्रति उच्च विषाक्तता के कारण सीमित है। जापान में इसे प्याज व सजावटी पौधों की अनेक बीमारियों की रोकथाम हेतु 2 मिलीग्राम प्रति लीटर की दर से प्रयोग किया जाता है।

ग्रीसीफॉलविन प्रतिजैविक ऑक्सफोर्ड आदि (1939) द्वारा *पी. ग्रीसियोफॉलवम* के चयापचयों से पृथक किया गया। यह बेसिडोमाइसटिस, एस्कोमाइसटिस, फफूँद इमपरफेक्टाइ एवं कुछ फाइकोमाइसटिस फफूँद का नाशक है किन्तु *बैट्रिटिस एलाई* फफूँद पर यह सर्वाधिक कारगर है। इसका चयनात्मक प्रभाव होता है। इसका पौध संरक्षण में सर्वप्रथम प्रयोग 1956 में बैट्रिटिस व सारकोस्पोरा प्रजातियों द्वारा उत्पन्न खर्रा फफूँद के रोकथाम हेतु

[1]वरिष्ठ वैज्ञानिक एवं [2]तकनीकी अधिकारी

हुआ था। यह जापान में तरबूज में *फ्यूजेरियम* विल्ट की रोकथाम एवं सेब में फूल आते समय सड़न की रोकथाम हेतु किया गया। चूहों पर इसकी एल.डी.$_{50}$ 400 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम है।

ट्रिकोथेसिन एक शक्तिशाली फफूँद नाशक है। यह अनाजों की जड़ों में सड़न, गेहूँ के लूज़ स्मट, चेरी एवं खट्टी चेरी की बीमारियों, मैदानी फसलों के *फ्यूजेरियम* विल्ट, तम्बाकू में खर्रा एवं कपास के *बर्टिसिलियम* विल्ट की रोकथाम में सहायक है।

ग्लियोटाक्सिन बहुत से फफूँदों जैसे *ट्राइकोडर्मा विरिडी, ग्लाइकेडियम फाइब्रियेटम, एसपरजिलस फ्यूमिगेटस* व *पेनिसिल्लियम* की विभिन्न प्रजातियों के चयापचयों में मौजूद होता है। हालाँकि यह *फ्यूजेरियम सेरुलियम* की वृद्धि को रोकता है किन्तु इसकी अस्थिरता के कारण इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व है।

ब्लास्टिसिडिन एस पिरिमिडीन प्रकार का एक प्रतिजैविक है जिसकी खोज 1955 में फुकुनागा आदि ने की थी। यह एक संपर्क फफूँद व जीवाणुनाशक है तथा चावल (Rice blast) फफूँद *पिरिकुलेरिया अराइजी* के प्रति उच्च चयनात्मक क्रिया करता है। कम पादप विषाक्तता के कारण इसके मोनोबेंजाइल अमीनोबेंजीन सल्फोनेट नमक का प्रयोग किया जाता है। इस पादप विषाक्तता को ब्लास्टिसिडिन के एक चयनात्मक प्रतिरोधी निराविषक के प्रयोग से और कम किया जा सकता है। चूहों पर इसकी एल.डी.$_{50}$ 39.5 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम है।

वर्तमान समय में कृषि क्षेत्र में सर्वाधिक प्रयोग किये जाने वाला प्रतिजैविक कसुगामाईसिन है जिसकी खोज उमेजावा ने 1965 में की थी। यह अम्लीय माध्यम में 20 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम की दर से *पी.अराइजी* के विरूद्ध चयनात्मक रूप से प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त सेम के हैलोब्लाइट व *स्यूडोमोनास* जीवाणु के प्रति भी यह प्रभावी है। इसकी एल.डी.$_{50}$ 40,000 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम है।

पॉलीऑक्सिन प्रतिजैविक *एस. काकोई एसियोनसिस* प्रजाति से 1965 में सुजुकी आदि द्वारा जापान में खोजा गया। इसका प्रभाव पौधों के अंदर समाहित होकर होता है। इसका प्रभावकारी उपयोग सेब एवं नाशपाती के स्कैब चावल के शीथब्लाइट *(पेलीकुलेरिया ससाकी),* चावल में ब्राउन स्पाट *(एच. अराइजी)* व *अल्टरनेरिया ब्रासिका* द्वारा उत्पन्न ब्लैक स्पाट के नियंत्रण में होता है।

पॉलीईनमैक्रोलाइड कृषि में प्रयोग होने वाली पिमारीसिन है। इसका पानी में घुलनशील नमक का प्रयोग होता है। इसका उपयोग फफूँदनाशक के रूप में कंद की बीमारी को दूर करने में गर्म पानी के उपचार के साथ होता है। विशेष रूप से यह डैफोडिल की बेसल रॉट जल बीमारी को ठीक करता है। चूहों पर इसका एल.डी.$_{50}$ सूचकांक 2.73 से 4.67 ग्राम प्रति किलोग्राम है।

वैलिडामाईसिन, ग्लूकोज वाली मूल यौगिक एवं संबंधित कोशिका, की खोज इवासा ने 1971 में की थी। अब तक 6 वैलिडामाईसिन ए, बी, सी, डी, ई एवं एफ की खोज की जा चुकी है। यह *बैसिडोमाइसटिस* फफूँद के लिये चुनिंदा है। यह मुख्य रूप से चावल में शीथ ब्लाइट एवं सब्जियों में डैम्पिंग ऑफ की रोकथाम में प्रयोग किये जाते हैं। इसका एल.डी.$_{50}$ सूचकांक 20000 मिलिग्राम प्रति किलोग्राम से अधिक होता है।

कवकनाशी प्रतिजैविक म्यूसिडीन की खोज म्यूजिलेक ने 1969 में की थी। ये कवक की वृद्धि को रोकता है और विशेष रूपात्मक परिवर्तन करता है, परन्तु जीवाणुओं पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता है। यह म्यूकर एवं राइजोपस प्रजाति के रेशे वाले कवक की रोकथाम हेतु 200-500 माइक्रोग्राम प्रति मिलीलीटर की दर पर प्रयुक्त होता है।

एबोमाइसिन को *स्ट्रेप्टोमाइसेस* की 325-17 प्रजाति से जापान में पृथक किया गया। यह सुई की तरह सफेद क्रिस्टल बनाता है। इसकी खोज आइजावा ने 1969 में की थी। यह बहुत से कवकों मुख्यतः *पी. अराइजी* व *ट्राइकोफाइटन* पर 20 मि.ली.प्रति किग्रा. की दर से प्रभावी होता है। इजोमाइसिन प्रतिजैविक *स्क्लेरोसिनिया* व *बैट्रिटिस* प्रजाति के विरूद्ध प्रभावी होता है। इसकी खोज *स्ट्रैप्टोमाइसेस* जीवाणु-समूह व से हुई। जापान में इसका उपयोग राजमा व मूंग की तने में सड़न को रोकने में होता है।

प्रूमाईसिन प्रतिजैविक स्ट्रैप्टोमाइसेस (स्ट्रेन एफ-1028) का चयापचय है। यह एक भविष्य में प्रयुक्त होने वाला अच्छा कवकनाशी है तथा *बैट्रिटिस, स्क्लेरोसिनिया* व *स्फेरोथिका* प्रजातियों की रोकथाम में अधिक प्रभावी है। यह स्तनपायी जानवरों के प्रति विषाक्त नहीं है।

कुशाका इत्यादि ने 1979 में टी एफ-138 नामक एक नये प्रतिजैविक की खोज की। यह ककड़ी, खीरा, गुलाब, सेब, अंगूर, जौ, तम्बाकू, हरी मिर्च व शहतूत की परतों पर 40-80 मिलीग्राम प्रति लीटर की दर से प्रयुक्त होने पर खर्रा फफूँद की 8 पीढ़ी तक विषाक्त बना रहता है। यह बिनोमिल से निष्प्रभावी *स्फेरोथिका स्ट्रेन* पर भी प्रभावी है।

निष्कर्ष

प्रतिजैविक का भविष्य में प्रयोग पर्यावरण को हानि पहुँचाये बिना एवं मानव पर कम विषाक्तता के साथ कवकनाशी के रूप में उज्ज्वल है। इसकी बहुत ही कम मात्रा में आवश्यकता पड़ती है क्योंकि कम सांद्रता पर इसका बहुत तीव्र असर होता है। आज ऐसे कवकनाशियों की आवश्यकता है जो बीमारी के प्रभावी नियंत्रण के साथ-साथ मानव पर कम-से-कम विषाक्त हों और इस कारण प्रतिजैविक सबसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनकी चयनित जीवाणु पर निश्चित विषाक्तता होती है सिर्फ व्लास्टीसीडीन-एस के अतिरिक्त।

वर्तमान आर्थिक संकट के दौर में यह प्रतिजैविक बहुत ही लाभप्रद हैं क्योंकि एक ही प्रकार के उपकरणों से विभिन्न प्रकार के प्रतिजैविक का उत्पादन किया जा सकता है। ज्यादातर सूक्ष्मजीवाणु इसके विषम रासायनिक सरंचना को उत्पन्न करते हैं, इससे उच्चतम व्यय युक्त संश्लेषण से बचा जा सकता है।

टमाटर के मूल्यवर्धित उत्पाद

डी.के. टंडन[1] एवं डी.के. शुक्ल[2]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

टमाटर का भारत में व्यावसायिक स्तर पर ग्रीष्म एवं शीत दोनों ही ऋतुओं में उत्पादन होता है। वर्ष 2009-10 में देश में टमाटर का उत्पादन 12,433.4 हजार टन था। आंध्र प्रदेश देश का सर्वाधिक टमाटर उत्पादक राज्य (1652.1 हजार टन) है तथा इसकी टमाटर उत्पादन में हिस्सेदारी 13.29 प्रतिशत है (राष्ट्रीय बागवानी बोर्ड, 2011)। टमाटर उत्पादन के क्षेत्र में उत्तर प्रदेश का भारत में 15वाँ स्थान है तथा भागीदारी 2.03 प्रतिशत (252.9 हजार टन) है। शीत ऋतु में पैदा किये जाने वाले टमाटर अपने कुल ठोस पदार्थों की अधिकता के कारण अच्छी गुणवत्ता वाले होते हैं। प्रत्येक 100 ग्राम टमाटर में 92.94 प्रतिशत जल की मात्रा, 3-5 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, 0.8-1.2 प्रतिशत रेशा, 0.25-0.40 प्रतिशत वसा एवं 0.7-1.0 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है जिससे 20-22 किलो कैलोरी ऊर्जा प्राप्त होती है। इसमें अन्य सूक्ष्म तत्व, विटामिन तथा मिनरल भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं जिसमें 140-230 मि.ग्रा. पोटैशियम, 10-15 मि.ग्रा. सोडियम, 20-28 मि.ग्रा. फास्फोरस, 15-30 मि.ग्रा. विटामिन बी, 0.4-0.65 मि.ग्रा. नियासिन, 200-650 आई. यू. विटामिन ए तथा 0.3-0.4 मि.ग्रा. विटामिन ई होता है। लाइकोपिन नामक कैरोटिनायड के कारण इसके फल का रंग लाल होता है। टमाटर से बने उत्पादों की गुणवत्ता मापने का मानक उनका लाल रंग ही है।

भारत में टमाटर का उपयोग मुख्यतः सब्जी बनाने एवं सलाद के रूप में होता है। टमाटर के गूदे को संरक्षित कर इससे प्यूरी, पेस्ट, केचप, चटनी सॉस इत्यादि का उत्पादन गृह एवं व्यावसायिक स्तर पर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त टमाटर से अचार, मुरब्बा, काकटेल एवं क्रश भी बनाये जा सकते हैं। गुणवत्तायुक्त उत्पाद बनाने हेतु कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है।

टमाटर का उत्पाद बनाने के लिये समान रूप से पके टमाटरों का ही प्रयोग किया जाना चाहिये क्योंकि पीले या हरे टमाटरों के प्रयोग से न केवल उत्पादों का लाल रंग कम हो जाता है अपितु ऑक्सीकरण के कारण भंडारण में इनमें भूरापन भी आ जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पाद को अनावश्यक गर्म नहीं करना चाहिये और उन्हें शीघ्र वातावरण के तापमान पर ले आना चाहिये। उत्पादन की किसी भी अवस्था में लोहे एवं ताँबे से बने बर्तनों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके संपर्क से लाइकोपीन का समरूप ऑक्सीकरण होता है तथा वह भूरे रंग में परिवर्तित हो जाता है। साथ में मौजूद टमाटर के टैनिन एवं उत्पादकों को बनाने में प्रयुक्त किये जाने

[1]प्रधान वैज्ञानिक एवं [2]तकनीकी अधिकारी

वाले मसालों के लोहे के संपर्क में आने से कालापन आ जाता है। अतः टमाटर के उत्पाद बनाने में स्टेनलेस स्टील के बर्तनों का ही इस्तेमाल करना चाहिये।

रस

रस एक स्वादिष्ट, लाल रंग का एवं अच्छी महक वाला उत्पाद होता है एवं इसमें विटामिन एवं खनिज तत्वों की मात्रा ताजे टमाटर के लगभग समान होती है। रस टमाटर का एक आधार उत्पाद है जिसको संरक्षित कर भविष्य में उससे आवश्यकतानुसार अन्य उत्पाद बनाये जा सकते हैं। अधिक उत्पादन के कारण मूल्यों में ह्रास की स्थिति में इसे संरक्षित करना अति लाभप्रद रहता है। स्वस्थ पके टमाटर के रस में गाढ़ा लाल रंग होने के साथ-साथ उसमें मौलिक स्वाद एवं सुवास भी होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इसमें स्वादानुसार 0.4 प्रतिशत अम्ल (सिट्रिक अम्ल के रूप में), 0.5-1.0 प्रतिशत नमक एवं 1.0 प्रतिशत शक्कर के साथ-साथ उत्पाद में कुछ मसाले भी मिलाये जा सकते है। इसमें समानता एवं पोषक तत्वों की अधिकता भी होनी चाहिये।

सामग्रीः रस-1 कि.ग्रा., शक्कर-10 ग्रा., नमक-5 ग्रा., सीट्रिक अम्ल-1 ग्रा. एवं सोडियम बेंजोएट-250 मि.ग्रा.। व्यक्तिगत रुचि एवं स्वादानुसार इसमें प्याज, लहसुन मसाले या अन्य जड़ी-बूटियाँ भी मिलायी जा सकती हैं।

विधिः छँटाई उपरान्त पके टमाटरों को अच्छी तरह धोकर उनको चार भागों में काटकर सीधे सास पेन में डालकर गर्म करते हैं। अन्य टमाटरों को इसमें काटकर डालते रहते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि मिश्रण लगातार उबलता रहे तथा साथ ही इसे चलाते भी रहना चाहिये। सारे फलों को डालने के बाद 5 मिनट तक हल्की आँच पर चलाते हैं और गर्म होने पर छन्नी से छानकर छिलका एवं बीज अलग कर लेते हैं। प्रति 100 किलोग्राम टमाटर से लगभग 70 किलो रस प्राप्त होता है। गर्म कर रस निकालने की विधि बिना गर्म किये रस निकालने से अच्छी होती है क्योंकि ठंडी अवस्था में रस निकालने से मात्रा में कमी के साथ-साथ रंग हल्का एवं ऑक्सीकरण के कारण विटामिन सी की मात्रा भी कम हो जाती है तथा सूक्ष्म जैविक विकार आने की संभावनायें बढ़ जाती है। व्यावसायिक रूप से रस के निर्माण में पल्पर एवं फिनिशर प्रयोग किये जाते हैं जिसमें लगातार फलों को काटकर डालने से रस निकलता रहता है परंतु धरेलू स्तर पर छन्नी का ही प्रयोग किया जाता है।

केचप एवं सास

केचप और सास लगभग एक ही प्रक्रिया से बनाये जाते हैं एवं इनमें मूल अंतर इनमें मिलाये जाने वाले अवयवों में होता है। सास का उत्पादन रस को सांद्रित करते समय इसमें नमक, शक्कर, प्याज, मसाले, सिरका एवं संरक्षक मिलाने से होते है। इसमें 12 प्रतिशत टमाटर के ठोस पदार्थ एवं कम-से-कम 28 प्रतिशत कुल ठोस पदार्थ होने चाहिये। उत्पाद तैयार होने की अवस्था में इसे छन्नी से छानकर रेशे अलग कर दिये जाते हैं लेकिन केचप में सास के अवयवों के अतिरिक्त अदरक, लहसुन, काली मिर्च एवं लौंग का भी प्रयोग किया जाता है। केचप का उत्पादन करने के लिये बीज एवं छिलके रहित रस

में नमक, शक्कर, सिरका या एसिटिक एसिड एवं मसाले मिलाकर एफ.पी.ओ. के मानकानुसार सांद्रित किया जाता है। मानकानुसार इसमें 12 प्रतिशत टमाटर के ठोस तत्व एवं कम-से-कम 25 प्रतिशत कुछ अन्य ठोस पदार्थ होना आवश्यक है।

सामग्रीः रस/गूदा-1 कि.ग्रा., शक्कर-75 ग्रा., नमक-10 ग्रा., कटा प्याज-50 ग्रा., अदरक-10 ग्रा., लहसुन-5 ग्रा., लाल मिर्च पावडर-5 ग्रा., दाल चीनी-10 ग्रा., बड़ी इलायची 10 ग्रा., सौफ-10 ग्रा., जीरा-10 ग्रा., काली मिर्च-10 ग्रा., लौंग-5 ग्रा., सिरका-25 मि.ली. या 5 मि.ली. ग्लेशियल एसिटिक एसिड तथा 0.25 ग्रा. सोडियम बेंजोएट।

विधिः केचप उत्पादन के लिये उबलते रस में निर्धारित शक्कर की तिहाई मात्रा डालते हैं जिससे इसका रंग गाढ़ा लाल एवं स्थिर रहे। शक्कर की पूरी मात्रा डालने से उबलने में अधिक समय लगने के कारण इसकी पौष्टिकता में कमी आती है एवं इसकी गुणवत्ता भी प्रभावित होती। नमक का उत्पाद तैयार होने की अंतिम अवस्था में मिलाया जाता है जिससे तैयार केचप का रंग हल्का न पड़े। सारे पिसे हुए निर्धारित मसालों की पोटली बनाकर उबलते समय डाल देते हैं और समयान्तराल में उसे चम्मच से दबाते रहते हैं जिससे मसालों का सत् अच्छी तरह निकल सके। व्यावसायिक स्तर पर उत्पाद बनाने हेतु पिसे मसालों की जगह उसका सत् एवं तेलों का प्रयोग किया जाता है परंतु इससे मसालों की मौलिक सुगंध नहीं आ पाती किन्तु उत्पाद का रंग अच्छा रहता है। केचप में औसतन 10-26 प्रतिशत तक शक्कर व 1.3-3.4 प्रतिशत नमक होता है। गुणवत्ता वाले सिरके जिसमें 5-5.5 प्रतिशत एसिटिक अम्ल होता है को उत्पाद तैयार होने की अंतिम अवस्था में मिलाते है जिससे वाष्पन द्वारा अम्ल की हानि नहीं हो। सिरके के स्थान पर रंगहीन एसिटिक अम्ल का प्रयोग भी किया जाता है। रस को गूदे से अलग होने से बचाने एवं उसके गाढ़ेपन को बनाये रखने हेतु 0.1-0.2 प्रतिशत पैक्टिन भी मिलायी जाती है। उत्पाद को गर्म अवस्था में बोतलों में भरते हैं जिससे विटामिन की क्षति कम-से-कम हो एवं उसका रंग खराब नहीं हो। भरने के पूर्व इसमें 0.025 प्रतिशत सोडियम बेंजोएट मिलाने एवं बोतलों का पाश्चीकृत करने एवं सभी प्रयुक्त सामग्री गुणवत्ता युक्त होने पर इसे बोतल खोलने के पश्चात 1 माह तक प्रयोग किया जा सकता है।

प्यूरी एवं पेस्ट

यह टमाटर के रस को सांद्रित कर तैयार किया जाता है। टमाटर प्यूरी का निर्माण छिलका एवं बीज रहित रस को गाढ़ा कर किया जाता है। मध्यम श्रेणी के टमाटर प्यूरी में कम-से-कम 9 प्रतिशत टमाटर के ठोस पदार्थ होने आवश्यक हैं। इसे और गाढ़ा कर जब 12 प्रतिशत तक सांद्रित करते हैं तब टमाटर प्यूरी तैयार होती है। 25 प्रतिशत ठोस पदार्थ वाली प्यूरी टमाटर पेस्ट एवं 33 प्रतिशत या इससे अधिक ठोस पदार्थ वाली प्यूरी को सांद्रित टमाटर पेस्ट कहा जाता है।

विधिः ऊपर बतायी गयी विधि के अनुसार रस बनाकर इसे खुले बर्तन में पकाते है परंतु इससे ज्यादातर विटामिन की क्षति हो जाती है एवं उत्पाद का रंग भूरा हो जाता है। इस प्रक्रिया से केवल 15 प्रतिशत तक ठोस पदार्थ की प्यूरी तैयार की जा

सकती है। इस तरह गाढ़ा करते समय इसमें थोड़ा खाद्य तेल या मक्खन मिलाने से उत्पाद तली में चिपकता नहीं है और साथ ही ज्यादा झाग भी नहीं बनता है। गुणवत्ता युक्त एवं सांद्रित प्यूरी बनाने हेतु निर्वात कढ़ाही का प्रयोग किया जाता है। इसमें विटामिन की मात्रा अधिक होने के साथ ही उत्पाद का रंग भी अच्छा रहता है। इस विधि में रस को 70^0 से.ग्रे. तापमान पर निर्वात के साथ उबालकर गाढ़ा किया जाता है। उत्पाद तैयार होने की आखिरी अवस्था में इसमें थोड़ा नमक भी मिला देते हैं। प्यूरी का सांद्रतानुसार श्रेणीकरण करने के लिये रिफ्रेक्टोमीटर का प्रयोग किया जाता है जिससे इसके घुलनशील तत्वों की मात्रा ज्ञात हो जाती है।

काकटेल

टमाटर काकटेल अधिकांश शहरों के उच्चस्तरीय रेस्टोरेंट एवं होटलों में प्रचलित हो रहा है। प्रत्येक क्षेत्रानुसार इसके बनाने की विधि में अंतर होने के बाद भी टमाटर का रस, नमक, सिरका एवं नीबू इसके मुख्य अवयव होते हैं।

सामग्रीः रस-1 कि.ग्रा., नमक-8 ग्रा., शक्कर-20 ग्रा., लौंग पावडर-0.4 ग्रा. धनिया पिसा, बड़ी इलायची, जीरा पिसा, दाल चीनी एवं काली मिर्च-0.3 ग्रा. प्रत्येक, नींबू का रस-10 मि.ली. एवं सिरका (10 प्रतिशत एसिटिक अम्ल)-50 मि.ली.।

विधिः रस को एक बंद ढक्कन के बर्तन में लेकर उसमें सारे मसालों की पोटली डालकर 20 मिनट तक धीमी आँच में पकाते हैं। इसके पश्चात इसमें छना नीबू का रस, सिरका एवं नमक मिलाते है तथा 82^0 से.ग्रे. तापमान तक गर्म करते हैं। अब इसे गर्म अवस्था में बोतलों में भरकर ढक्कन लगा देते हैं। बोतलों को उबलते पानी में 30 मिनट तक निर्जर्मीकृत कर ठंडा कर भंडारित करते हैं।

चटनी

यह उत्पाद लगभग सब घरों में बनाया जाता है। अच्छी गुणवत्तायुक्त चटनी पाचक एवं भूखवर्धक होता है। एफ.पी.ओ. के मानकानुसार चटनी में 40 प्रतिशत टमाटर की मात्रा एवं कम-से-कम 50 प्रतिशत कुल घुलनशील ठोस पदार्थ होने चाहिये।

सामग्रीः टमाटर 1 कि.ग्रा., प्याज 200 ग्रा., अदरक 10 ग्रा., लहसुन 5 ग्रा., पिसी लाल मिर्च 8 ग्रा., चीनी 600 ग्रा., नमक 30 ग्रा., दाल चीनी, काली मिर्च, बड़ी इलायची, जीरा प्रत्येक 10 ग्रा., ग्लेशियल एसिटिक अम्ल 5 मि.ली. तथा सोडियम बेंजोएट 0.5 ग्रा.।

विधि : पूर्ण रूप से परिपक्व, छँटे हुए टमाटरों को धोकर 2 मिनट तक गर्म करते हैं (ब्लांचिंग)। अब इनका तेज धार के चाकू से छिलका निकालकर अच्छी तरह से पीस देते हैं। नमक एवं सिरके के अतिरिक्त सभी सामग्री मिलाकर इसे निर्धारित गाढ़ापन आने तक पकाते हैं। अब इसमें नमक एवं सिरका मिलाकर 5 मिनट तक पकाते हैं। परिरक्षक को थोड़े पानी में घोलकर चटनी में मिलाकर गर्म अवस्था में बोतलों में भरकर भंडारित करते है।

सूप

यह एक पौष्टिक, पाचक एवं स्वास्थ्यवर्धक पेय है। इसमें विटामिन एवं खनिज तत्वों की प्रचुरता होती है। इसके अतिरिक्त सूप में भूखवर्धक गुण भी

होते है। एफ.पी.ओ. के मानकों के अनुसार सूप में कुल घुलनशील ठोस पदार्थों की मात्रा कम-से-कम 7 प्रतिशत होना आवश्यक है।

सामग्रीः टमाटर का गूदा-1 कि.ग्रा., नमक-20 ग्रा., शक्कर 20 ग्रा., मक्खन-20 ग्रा., आटा/मैदा-10 ग्रा., कटा प्याज-20 ग्रा., लहसनु-5 ग्रा., लौंग-5 ग्रा. तथा पिसा हुआ जीरा, दाल चीनी, बड़ी इलायची एवं काली मिर्च-1 ग्रा. प्रत्येक तथा 350 मि.ली. पानी।

विधिः छने हुये टमाटर के रस/गूदे में सभी पिसे मसालों को पोटली डालकर उबालते हुए सांद्रित करते हैं। इसके बाद आटा/मैदा एवं मक्खन का गाढ़ा घोल तैयार कर उसमें गाढ़ा रस मिला देते हैं। तत्पश्चात इस मिश्रण को 2 मिनट तक निर्धारित गाढ़ापन लाने हेतु पकाते हैं तथा पोटली को दबाकर निकाल लेते हैं। सूप को सादे कैन में भरकर 115^0 से.ग्रे. तापमान पर 40-45 मिनट तक निर्जर्मीकृत करते हैं तथा कमरे के सामान्य तापमान पर भंडारित करते हैं।

अचार

नमक एवं सिरके में फल एवं सब्जियों के संरक्षण को अचार कहा जाता है। यह फल एवं सब्जियों के परिरक्षण का प्राचीनतम ज्ञात तरीका है। अचार भूखवर्धक होने के साथ-साथ खाने को स्वादिष्ट भी बनाता है।

सामग्रीः टमाटर-1 कि.ग्रा., लाल मिर्ची-5 ग्रा., नमक-75 ग्रा., जीरा-10 ग्रा., हल्दी-5 ग्रा., हींग-15 ग्रा., राई-100 ग्रा., लहसुन-30 ग्रा., अदरक-100 ग्रा., हरी मिर्च-50 ग्रा., सिरका-500 मि.ली. एवं सरसों का तेल-250 मि.ली.।

विधिः परिपक्व एवं कड़े टमाटर के चार से छः टुकड़े काट लेते हैं। सिरके को छोड़कर सभी मसालों की तेल में भून कर टुकड़ों में अच्छी तरह मिला देते है। इसमें पिसे मसाले मिलाकर अच्छी तरह चलाने के बाद ठंडा कर सिरका मिलाते हैं और जार में भंडारित कर लेते हैं।

मुरब्बा

फलों या फलों के टुकड़ों को शक्कर गाढ़े के घोल में वाष्पन द्वारा सांद्रित करने की प्रक्रिया से तैयार उत्पाद मुरब्बा कहलाता है। तैयार उत्पाद में कुल घुलनशील ठोस पदार्थों की मात्रा 68 या उससे अधिक होनी चाहिये। इससे इसे काफी लम्बे समय तक संरक्षित किया जा सकता है। अच्छे स्वाद के अतिरिक्त उत्पाद में पोषकता भी प्रचुरता में होती है।

विधिः पूर्ण परिपक्व परन्तु कड़े फलों को 15 से 30 सेकेण्ड हेतु स्केल्डिंग करते हैं एवं इसका छिलका तेज धार की चाकू से हटा देते हैं। तैयार फलों को 55 प्रतिशत शक्कर के गाढ़े घोल में 1 दिन के लिये डुबोकर रखते है। अगले दिन शर्करा के घोल को उबालकर 2/3 भाग तक गाढ़ा करते हैं तथा पुनः फलों को डालकर 1 दिन के लिये रख देते हैं। प्रक्रिया निर्धारित गाढ़ापन आने तक दोहराते हैं। उत्पाद तैयार होने पर जार में घोल के साथ भंडारित करते हैं।

डिब्बाबंदी

डिब्बाबंदी फल एवं सब्जियों के बंद डिब्बे में

गर्म कर उनको संरक्षित करने की एक प्रक्रिया है। इससे उत्पादों को 1 वर्ष की अवधि तक संरक्षित किया जा सकता है और उनके अनुपलब्धता के समय ताजे फल या सब्जी की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है।

विधिः मध्यम आकार के, समान रूप से लाल रंग के, गूदेदार एवं पके टमाटरों को 2-3 मिनट तक उबलते पानी में डालते हैं। अब इसे जार में भरकर उसमें टमाटर का रस या प्यूरी भरकर कैन बंद कर देते है। अब इसे 45-60 मिनट तक उबलते पानी में डाल कर ठंडा होने के पश्चात भंडारित करते हैं।

सांद्रित पूर्ण टमाटर (क्रश)

यह टमाटर का एक अलग उत्पाद है जिसमें पूरे टमाटर का प्रयोग किया जाता है। प्यूरी या पेस्ट में छिलका एवं बीज नहीं होने के कारण यह उससे अलग उत्पाद है। इसको खाने में प्रयोग करने से पूरे टमाटर का आनंद एवं स्वाद प्राप्त होता है। यह खाना बनाने में इस्तेमाल करने, सूप या चटनी बनाने में उपयोग हेतु एक मध्य का उत्पाद है।

सामग्रीः छिलके एवं बीज सहित गूदा-1 कि.ग्रा., एसिटिक अम्ल 1.5 मि.ली., सोडियम बेंजोएट-70 मि.ग्रा. तथा पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट-140 मि.ग्रा.।

विधिः पूर्ण परिपक्व, लाल एवं बीमारी रहित छँटाई किये हुये टमाटर के 4-6 टुकड़े कर उबालकर पीस लेते हैं। इसे मध्यम आँच में इसके आयतन के एक तिहाई होने तक पकाते हैं। अब इसमें प्रति किलो तैयार पेस्ट के अनुसार 5 मि.ली. एसिटिक अम्ल मिलाकर 5 से 8 मिनट तक उबालते हैं। 0.4 ग्रा. पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट तथा 0.2 ग्रा. सोडियम बेंजोएट प्रति किलो पेस्ट की दर से थोड़े पानी में घोलकर इसमें अच्छे से मिलाकर सूखे जार में भर देते हैं। जार में ढक्कन लगाकर भंडारित करते हैं।

हो गयी है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से काई गंगा निकलनी चाहिए।
आज यह दीवार, परदों की तरह हिलने लगी,
क्षते लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।
हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गाँव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश हिलनी चाहिए।
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
सारी कोशिश है कि सूख बदलनी चाहिए।
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आज, लेकिन आग जलनी चाहिए।

-दुष्यन्त कुमार

बंद गोभी का किण्वित अचार

नीलिमा गर्ग[1] एवं संजय कुमार[2]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

फल तथा सब्जियाँ विटामिन एवं खनिज पदार्थों के उत्तम स्रोत हैं। विगत कुछ वर्षों में किण्वित फल तथा सब्जियों का प्रोबॉयटिक के रूप में उपयोगिता की काफी चर्चित हुई है। गाजर, चुकन्दर, शिमला मिर्च, खीरा इत्यादि को किण्वित कर इन्हें प्रोबॉयटिक युक्त बनाया जा सकता हैं।

प्रोबॉयटिक ऐसे जीवित सूक्ष्म जीव हैं जिनका उचित मात्रा में सेवन करने से हमारे स्वास्थ्य पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है। ये हमारे शरीर, विशेषकर पाचन तंत्र को विशेष प्रकार से लाभान्वित करते हैं। प्रोबॉयटिक हमारी छोटी तथा बड़ी आँत में उपस्थित लाभकारी सूक्ष्मजीवों की संख्या उचित स्तर पर बनाये रखने में सहयोग प्रदान कर विभिन्न प्रकार के रोगाणुओं को नष्ट करने में सहायक होते हैं। अनेक प्रकार के जीवाणु, कवक तथा यीस्ट प्रोबॉयटिक का कार्य करते हैं। इनमें जीवाणुओं का महत्व अधिक है। *लैक्टोबैसिलस* तथा *बाईफिडोबैक्टीरियम* नामक जीवाणुओं की अनेक जातियाँ प्रोबॉयटिक के रूप मे काफी प्रचलित हैं। इसी प्रकार *सैकरोमाइसेस, स्ट्रेप्टोकोकस* आदि का भी प्रोबॉयटिक के रूप में उपयोग किया जाता है। स्पोरोलैक, वी-सैक्ट आदि अनेक प्रकार के प्रोबॉयटिक तो बाजार में कैप्सूल के रूप में भी उपलब्ध हैं।

प्रोबॉयटिक विशेष रूप से *लैक्टोबैसीलस,* पेचिस, दस्त तथा अन्य आँत सम्बन्धी रोगों में काफी लाभप्रद होता है। ये आँतों के संक्रमण को रोकते हैं तथा गैस्ट्रोइंटेराइटिस को दूर करने मे सहायता प्रदान करते हैं। प्रोबॉयटिक टॉक्सिन तथा कार्सीनोजेनिक पदार्थों को घटाकर कैंसर की संभावनाओं को कम करते हैं। ये अनेक प्रकार के विटामिन, विशेषकर विटामिन बी का संश्लेषण कर शरीर को स्वास्थ्य लाभ देते हैं। प्रोबॉयटिक कोलेस्ट्राल की मात्रा सीमित करने विभिन्न प्रकार की खाद्य एलर्जी से रक्षा करने तथा शरीर की प्रतिरोधक क्षमता के विकास में काफी उपयोगी होते हैं।

बंद गोभी पौष्टिकता से परिपूर्ण सब्जी है, जिसमें उच्च मात्रा में रेशे, खनिज तथा विटामिन उपलब्ध होते हैं। खाद्य रेशों की प्रचुरता के कारण इसका सेवन पाचन संबंधी विकारों में काफी लाभप्रद है। इसके अतिरिक्त इस सब्जी में कैंसर रोधी तत्व भी पाये जाते हैं। भारतीय परिवेश में बंद गोभी का उपयोग सामान्यतः सब्जी बनाने अथवा सलाद के रूप में होता है। पश्चिमी देशों में बंद गोभी के अचार का काफी प्रचलन है जो किण्वन विधि द्वारा निर्मित किया जाता है। इस उत्पाद का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि इसमें खनिज पदार्थों के साथ-साथ शरीर को स्वास्थ्यवर्धक जीवाणु भी उचित मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। बंद गोभी की सतह पर

[1]प्रधान वैज्ञानिक एवं [2]तकनीकी अधिकारी

लैक्टोबैसीलस नामक जीवाणु पाये जाते हैं जो उचित माध्यम में लैक्टिक अम्ल का निर्माण करते हैं। इस प्रकार उत्पाद में उचित खटास पैदा होती है तथा इसका उपयोग स्वादिष्ट अचार के रूप में किया जाता है।

किण्वित अचार बनाने हेतु सबसे पहले पूर्ण परिपक्व बंद गोभी को साफ पानी से धोकर बाहरी हरे तथा क्षतिग्रस्त पत्तों को हटा देते हैं। डंठल को चाकू द्वारा काटकर अलग कर देते हैं तथा पत्तों को लगभग 0.2 से.मी. चौड़ाई वाली कतरनों में काट लेते हैं। अब इन पर 25 ग्राम पिसा नमक प्रति किलोग्राम कतरनों के हिसाब से छिड़ककर अच्छी प्रकार से मिलाते हैं तथा काँच के स्वच्छ जार में दबा-दबाकर भर देते हैं। अब प्लास्टिक की एक बड़ी शीट को जार के मुख पर फैलाकर हाथ से दबाव डालते हुए इस प्रकार अंदर घुसाते हैं कि जार की गर्दन में शीट की एक कटोरीनुमा रचना बन जाती है जिसकी निचली सतह कतरनों को पूरी तरह ढक लेते है। अब कटोरीनुमा प्लास्टिक की शीट में पानी इस प्रकार भरते हैं कि इतना दबाव पैदा हो जाये कि कतरने नमक के घोल में पूरी तरह डूबी रहें। जार को 15-20 दिन के लिए छोड़ देते हैं। इस दौरान किण्विन द्वारा उचित मात्रा में लैक्टिक अम्ल का निर्माण होता है जिससे अचार में खटास बढ़ती है। इस प्रकार स्वादिष्ट अचार का निर्माण होता है। निर्मित अचार का रेफ्रीजरेटर के बिना तीन माह तक सुरक्षित रखकर उपयोग किया जा सकता है।

कृषि वानिकी पद्धतियाँ एवं लाभ

गणेश शुक्ला[1], कृपाल सिंह[2], बजरंग सिंह[3] एवं अनिल कुमार सिंह[4]
भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान, सी.एस.एम.नगर

देश की जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उसके फलस्वरूप कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल कम होता जा रहा है। इसका सीधा प्रभाव वनों पर पड़ रहा है। मृदा की उपजाऊ शक्ति कम होने के साथ-साथ वायुमंडलीय तापमान भी प्रभावित हो रहा है। वर्षा की मात्रा एवं वर्षा के दिन भी कम होते जा रहे हैं। ईंधन की कमी और लकड़ी का मूल्य अधिक होने के कारण प्रतिवर्ष करोड़ों मीट्रिक टन गोबर को उपलों के रूप में जला दिया जाता है। यदि इस गोबर का खाद के रूप में उपयोग किया जाए, तो मिट्टी में उपयोगी जीवाणुओं की वृद्धि हो जाएगी। भारत में कुल 19 प्रतिशत भाग में वन हैं जबकि इस संबंध में हमारा लक्ष्य 33 प्रतिशत है। देश में वनों का विस्तार नितांत आवश्यक है। आज की बढ़ती हुई मानव एवं पशु जनसंख्या को खाद्यान्न, फल, दूध, सब्जी, ईंधन, इमारती लकड़ी, चारा इत्यादि की आपूर्ति के लिये घोर संकट का सामना करना पड़ रहा है। ऐसी परिस्थिति में कृषि वानिकी ही उक्त समस्या का समाधान करने में सहायक है।

कृषि वानिकी क्या है?

कृषि वानिकी मृदा प्रबंधन की एक ऐसी पद्धति है जिसके अंतर्गत एक ही भूखंड पर कृषि फसलें एवं बहुद्देशीय वृक्षों/झाड़ियों के उत्पादन के साथ-साथ पशुपालन व्यवसाय को लगातार या क्रमबद्ध विधि से संरक्षित किया जाता है। इससे भूमि की उपजाऊ शक्ति में भी वृद्धि की जा सकती है।

कृषि वानिकी जरूरी क्यों ?

- कृषि ईंधन, इमारती लकड़ी की आपूर्ति करना एवं खाद्यान्न वृद्धि को सुनिश्चित करना,
- भूमि में सुधार एवं मृदा क्षरण पर नियंत्रण,
- फलों एवं सब्जियों का उत्पादन बढ़ाना,
- जलवायु, पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण सुरक्षा प्रदान करना,
- जलाऊ लकड़ी की आपूर्ति करना,
- कुटीर उद्योगों हेतु अधिक साधन एवं रोजगार उपलब्ध कराना।

कृषि वानिकी पद्धतियाँ

कृषि वानिकी में अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है।

कृषि-उद्यानिकी पद्धतिः आर्थिक एवं पर्यावरण की दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण एवं लाभकारी पद्धति है। इस पद्धति के अंतर्गत शुष्क भूमि में अनार,

[1]वैज्ञानिक, भा.सू.प्रौ.सं. [2]एस.आर.एफ., रा.व.अ.सं. [3]सेवानिवृत वैज्ञानिक, रा.व.अ.सं. एवं [4]तक. अधि., के.उ.बा.सं.

अमरूद, बेर, किन्नो, कागजी नीबू, मौसमी, शरीफा 6-6 मीटर की दूरी और आम, आँवला जामुन, बेल को 8-10 मीटर की दूरी पर लगाकर उनके बीच में बैंगन, टमाटर, भिंडी, फूलगोभी, तोरई, लौकी, सीताफल, करेला आदि सब्जियाँ और धनिया, मिर्च, अदरक, हल्दी, जीरा, सौंफ, अजवाइन आदि मसालों की फसलें सुगमता से ली जा सकती हैं। इससे कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। साथ ही फल वृक्षों की काट-छाँट से जलाऊ लकड़ी और पत्तियों द्वारा चारा भी उपलब्ध हो जाता है।

कृषि-वन पद्धतिः इस पद्धति में बहुद्देशीय वृक्ष जैसे शीशम, सागौन, नीम, देशी बबूल, यूकेलिप्टस के साथ-साथ रिक्त स्थान में खरीफ में संकर ज्वार, संकर बाजरा, अरहर, मूँग, उरद, लोबिया और रबी में गेहूँ, चना, सरसों, अलसी की खेती की जा सकती है। इस पद्धति के अपनाने से इमारती लकड़ी, जलाऊ लकड़ी, खाद्यान्न, दालें एवं तिलहनों की प्राप्ति होती है। भूमि की मृदा शक्ति में वृद्धि होती है। पशुओं को चारा भी उपलब्ध होता है।

उद्यान-चारा पद्धतिः यह पद्धति उन स्थानों के लिये अत्यन्त उपयोगी है जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध न हों और श्रमिकों की समस्या भी हो। इस पद्धति में भूमि में कठोर प्रवृत्ति के वृक्ष जैसे बेर, बेल, अमरूद, जामुन, शरीफा, आँवला इत्यादि उगाकर वृक्षों के बीच में घासें जैसे अंजन, हाथी घास, मार्बल के साथ-साथ दलहनी चारे जैसे स्टाइलो, क्लाइटोरिया इत्यादि लगाते हैं। इस पद्धति से फल एवं घास भी प्राप्त होती है और साथ ही भूमि की उर्वराशक्ति में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त भूमि एवं जल संरक्षण भी होता है। भूमि में कार्बनिक पदार्थों की वृद्धि भी होती है।

वन-चारागाह पद्धतिः इस पद्धति में बहुद्देशीय वृक्ष जैसे अगस्ती, खजड़ी, सिरस, अरू, नीम, बकाइन इत्यादि की पंक्तियों के बीच में घास जैसे अंजन, हाथी घास, मार्बल और दलहनी चारा फसलें जैसे स्टाइलो और क्लाइटोरिया को उगाते हैं। इस पद्धति में पथरीली/बंजर एवं अनुपयोगी भूमि से ईंधन, चारा, इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। इस पद्धति के अन्य लाभ हैं भूमि की उर्वराशक्ति की वृद्धि, भूमि एवं जल संरक्षण, बंजर भूमि का सुधार, गर्मियों में पशुओं का हरा चारा उपलब्ध होता है जिससे दुग्ध उत्पादन में वृद्धि होती है।

कृषि-वन-चारागाह पद्धतिः यह पद्धति भी बंजर भूमि के लिये उपयुक्त है। इनमें बहुद्देशीय वृक्ष जैसे सिरस, रामकाटी, केजूएरीना, बकाइन, शीशम, देशी बबूल इत्यादि के साथ में खरीफ में तिल, मूँगफली, ज्वार, बाजरा, मूंग, उरद, लोबिया और बीच-बीच में सूबूल की झाड़ियाँ लगा देते हैं जिनसे चारा प्राप्त होता है और जब बहुद्देशीय वृक्ष बड़े हो जाते हैं, तो फसलों के स्थान पर वृक्षों के बीच में घास एवं दलहनी चारे वाली फसलों का मिश्रण लगाते हैं। इस प्रकार इस पद्धति से चारा, ईंधन, इमारती लकड़ी एवं खाद्यान्न की प्राप्ति होती है और बंजर भूमि भी कृषि योग्य हो जाती है।

मेड़ों पर वृक्षारोपणः इस पद्धति में खेतों के चारों ओर निर्मित मेंड़ों पर करौंदा, फालसा, जामुन, नीम, सहजन, रामकाटी, करघई इत्यादि वृक्ष लगा दिये जाते हैं जिनसे अतिरिक्त उपज प्राप्त की जा सकती है। साथ ही चारा, ईंधन, इमारती लकड़ी भी प्राप्त होती है। भूमि संरक्षण भी होता है।

कृषि वानिकी के लाभ

- कृषि वानिकी के द्वारा भूमि कटाव की रोकथाम की जा सकती है और भू एवं जल संरक्षण कर मृदा की उर्वराशक्ति में वृद्धि कर सकते हैं।
- कृषि एवं पशुपालन आधारित कुटीर एवं मध्यम उद्योगों को बढ़ावा मिलता है।
- कृषि वानिकी से मृदा-तापमान, विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में बढ़ने से रोका जा सकता है जिससे मृदा के अंदर पाये जाने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं को नष्ट होने से बचाया जा सकता है जो हमारी फसलों के उत्पादन बढ़ाने में सहायक होते हैं।
- बेकार पड़ी बंजर, ऊसर, बीहड़ इत्यादि अनुपयोगी भूमि पर घास, बहुद्देशीय वृक्ष लगाकर उन्हें उपयोग में लाया जा सकता है और उनका सुधार किया जा सकता है।
- कृषि वानिकी के अंतर्गत वृक्ष हमारी ऐसी धरोहर हैं जो किसी न किसी रूप में सदैव हमारे आर्थिक लाभ का साधन बने रहते हैं।
- ग्रामीण जनता की आय, रहन-सहन और खान-पान में सुधार होता है।

कृषि वानिकी समय की माँग है। अतः कृषकों के लिये इसे अपनाना नितांत आवश्यक है। बंजर, ऊसर एवं बीहड़ भूमि में कृषि वानिकी अपनाने से उनका सदुपयोग होगा साथ ही खाद्यान्न, जल, सब्जियाँ, चारा, खाद, गोंद आदि वस्तुएँ उपलब्ध होंगी और पर्यावरण में निश्चित रूप से सुधार होगा।

केला का बहुआयामी महत्व

डी.के. टंडन[1] एवं रेखा चौरसिया[2]

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ की अनेक प्रकार की जलवायु (शुष्क, शीतोष्ण, उपोष्ण एवं ऊष्ण कटिबन्धीय) में विभिन्न प्रकार के फलों का उत्पादन किया जाता है। फलोत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में दूसरा स्थान है। पोषण सुरक्षा की दृष्टि से फल मानव जीवन के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। फलों में पौष्टिक तत्व, खनिज एवं विटामिन प्रमुखता से होने के कारण उनका बहुआयामी महत्व है। अतः फल हमारी पोषण आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साथ-साथ किसानों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में भी सहायक होते हैं।

केला *(मूसा पारादिसिआका लीनियस)* दुनिया के सबसे पुराने एवं लोकप्रिय फलों में से एक है। केला का अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक महत्व एवं विविध रूप में प्रयोग होने के कारण इसे कल्प तरू की संज्ञा दी गयी है। भारत में पैदा किये जाने वाले फलों में क्षेत्रफल की दृष्टि से केला का द्वितीय स्थान है। केला के उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में प्रथम स्थान है। ब्राजील, इंडोनेशिया, चीन में भी केले का उत्पादन बहुतायत में किया जाता है। पाकिस्तान, वर्मा एवं अनेक अन्य देशों में भी केला की कुछेक किस्मों को आर्नामेन्ट या फलावर प्लान्ट के रूप में पैदा किया जाता है। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में केला समृद्धि का प्रतीक है। भारत में केला की खेती मुख्यतः तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, केरल, असम, बिहार, शिपुरा और मेघालय में की जाती है। किन्तु विगत वर्षों में उत्तर प्रदेश में भी केला का उत्पादन व्यावसायिक स्तर पर किया जाने लगा है। स्वादिष्ट एवं अनेक गुणों से सम्पन्न होने के कारण केला का आदिकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीनकाल में केला को मुख्य आहार माना जाता था। वर्तमान समय में भी फलों में केला का कोई विकल्प नहीं है। केला को यदि दूध के साथ खाया जाये तो संतुलित आहार प्राप्त हो जाता है। बहुतायत से मिलने के कारण लोग इसके गुणों से अनभिज्ञ हैं जबकि वास्तविकता यह है कि केला अन्य फलों की अपेक्षा अधिक पौष्टिक है। इसके फल सस्ते, स्वादिष्ट एवं पौष्टिकता से भरपूर होने के साथ-साथ प्रत्येक मौसम में उपलब्ध रहते हैं। केला में विटामिन डी को छोड़कर सभी प्रकार के पौष्टिक तत्व (सारणी 1) पाये जाते है। अपने इन्हीं गुणों के कारण केला गुणकारी, लाभकारी एवं सबसे उपयोगी फल कहलाता है। भारत में केला का उपयोग सब्जी एवं फल दोनों प्रकार से किया जाता है। अनेक गुणों से युक्त केला के पूरे पौधे का किसी-न-किसी रूप में अपना महत्व है।

[1]प्रधान वैज्ञानिक एवं [2]तकनीकी अधिकारी

सारणी 1: केले के फल में पोषक तत्व

ik"kd rRo	Ekk=k
नमी	70 प्रतिशत
कार्बोहाड्रेट	27 प्रतिशत
रेशा	0.5 प्रतिशत
प्रोटीन	1.2 प्रतिशत
लिपिड	0.3 प्रतिशत
मिनिरल	0.9 प्रतिशत
फास्फोरस	29.0 मि.ग्रा./100 ग्राम
कैल्सियम	8.0 मि.ग्रा./100 ग्राम
आयरन	0.6 मि.ग्रा./100 ग्राम
बीटा कैरोटीन	0.05 मि.ग्रा./100 ग्राम
राइबोफ्लोविन	0.05 मि.ग्रा./100 ग्राम
नियसिन	0.7 मि.ग्रा./100 ग्राम
विटामिन सी	12.0 मि.ग्रा./100 ग्राम
ऊर्जा	104 कैलोरी
खाने योग्य अंश	71 प्रतिशत

पत्तों का महत्व

- शुभ अवसरों एवं पूजा स्थलों पर केला के पत्तों का प्रयोग किया जाता है।
- केला के पत्तों का उपयोग थाली के रूप में, खाना रखने तथा कुशनिंग एवं पैकेजिंग सामग्री के रूप में किया जाता है।
- लैटिन अमेरिका में केला के पत्तों को छाते या रेनकोट के रूप में प्रयोग किया जाता है। उसके लिये केला के पत्तों को वृन्त से पकड़ कर आगे से पीछे की तरफ लटका लेते हैं।
- फीही केला के पत्तों को छप्पर, पैकिंग एवं सिगरेट रैपर के रूप में प्रयोग किया जाता है।
- तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों में केला के पत्तों का व्यवसाय बहुत तेजी से बढ़ रहा है। वहाँ इसका प्रयोग होटलों में पत्ते के रूप में किया जाता है।

तने का महत्व

- शुभ अवसरों पर पूजा स्थल का द्वार, विवाह मण्डप एवं वरमाला स्थल की सजावट में केला के तनों का प्रयोग किया जाता है।
- केला के पौधों का तना रेशे का अच्छा स्रोत है। इसे रस्सी, थैला फिशिंग नेट, डोर, मैट, टेबल मैट आदि बनाने में प्रयोग किया जाता है।
- तने के रेशे एवं सुपारी की भूसी को मिला कर अच्छी किस्म का कागज तैयार किया जाता है।
- रेल द्वारा कार एवं ट्रकों को एक से दूसरे स्थान पर भेजने में यह कुशनिकंग मैटीरियल का कार्य करते हैं।
- फिलीपीन्स में इससे पतला पारदर्शी रेशा बनाया जाता है जिसे अगना कहते हैं। इसे कपड़ा, रूमाल आदि बनाने में प्रयोग किया जाता है।
- श्रीलंका में इससे महँगे जूतों का सोल एवं फर्श आवरक (फ्लोर कवरिंग) बनाया जाता है।
- फिलीपीन्स में केला के पौधों को जमीन के पास से काट कर उसमें डंडे से छेद कर लेते हैं जो थोड़ी देर में पानी के रस से भर जाता है जिससे आपातकाल में प्यास बुझाने का कार्य करते हैं।
- केला की पत्तियों को जला कर उसकी राख का घोल बनाया जाता है जिसे मौसमी सब्जियों के साथ औषधि के रूप में प्रयोग करते हैं।

फल एवं फूल का महत्व

- पौष्टिक होने के कारण ताजे फल का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है।
- फलों को आलू की भाँति तला, उबाला, भूना या सेंक कर प्रयोग में लाया जा सकता है।
- फलों से गूदा, चिप्स, जैम, आटा, बनाना केक, सब्जी, बियर, अचार आदि अनेक प्रकार के प्रसंस्कृत उत्पाद बनाये जाते हैं।
- केला के फूल को अचार एवं सब्जी बनाने हेतु प्रयोग में लाया जाता है।

छिलके का महत्व

- सूखे केला के छिलके को काला चमड़ा बनाने के काम में लाया जाता है क्योंकि इसमें 30-40 प्रतिशत टैनिन पाया जाता है।
- सूखे केला के छिलके की राख में पोटाश काफी मात्रा में होने के कारण इसे साबुन बनाने में इस्तेमाल किया जाता है।
- कच्चे केला के छिलके को जला कर डाई बनाने में प्रयोग किया जाता है।
- छिलके से चाँदी के जेवरों को चमकाने का काम किया जा सकता है।

औषधीय का महत्व

- कच्चे केला की सब्जी खाने से पेट के कीड़े मल के साथ बाहर निकल जाते हैं। दस्त-पेचिस की शिकायत में भी आराम मिलता है।
- जीभ पर छाले होने पर रोज एक पका केला गाय के दूध के साथ खाने पर आराम मिलता है।
- कैल्सियम पाये जाने के कारण इसके प्रयोग से दाँत साफ एवं मजबूत होते हैं।
- आग से जल जाने पर प्रभावित स्थान पर केला का गूदा को फेंट कर मरहम की तरह लगाने से तुरंत आराम मिलता है।
- गर्मी के मौसम में नकसीर फूटने पर पका केला दूध के साथ आठ-दस दिनों तक नियमित रूप में सेवन करने से नकसीर फूटना बंद हो जाता है।
- पके हुए केला के गूदे एवं छिलके में एन्टीफंगल एवं ऐंटीवायरल गुण पाये जाते हैं। अतः दाद होने पर केला के गूदे को नीबू के रस में पीस कर उसका पेस्ट बनाकर प्रयोग में लाने से तुरंत आराम मिलता है।
- यदि दो केला दो चम्मच शहद के साथ रोज सुबह खायें तो दिल को ताकत एवं हाई ब्लड प्रेशर में राहत मिलती है।
- आँतों के विकारों में तथा दस्त, पेचिश एवं संग्रहण रोगों में दो केला लगभग 100 ग्राम दही के साथ सेवन करने से तुरंत आराम मिलता है।
- केला अम्लता को कम करता है एवं आयरन होने के कारण एनीमिया के खतरे को कम करता है।
- तने कोमल हिस्से से निकले रस का उपयोग गुर्दे की पथरी एवं उच्च रक्तचाप के इलाज में प्रयोग किया जाता है।
- गर्मी के मौसम में डिहाइड्रेशन से बचने के

लिए तरल पदार्थ पीने के साथ ही केला का भी सेवन करना चाहिए। केला में पोटैशियम होने के कारण यह शरीर में तरल पदार्थ की मात्रा को नियंत्रित करने का काम करता है।

उत्पाद

गूदा या बनाना प्यूरीः केला का गूदा व्यावसायिक संरक्षित उत्पाद बनाने का एक मुख्य आधार है। इसे भंडारित कर तुड़ाई उपरांत होने वाले ह्रास को काफी हद तक कम किया जा सकता है। सीजन में केला की भरमार और विपणन एवं निर्यात की सुविधा नहीं होने के कारण 1966 में यूनाइटेड फूड कम्पनी, होनड्रास ने डिब्बा बन्द एवं फ्रोजन बनाना प्यूरी और छिब्बा बन्द फाँकों के लिए एक प्रसंस्करण प्लान्ट बनाया था। तब से केला के प्रसंस्करण एवं संरक्षण में काफी उन्नति हुई है। केला का गूदा बेबी फूड, केक, पाई, चीज, मिल्क केक, आटा, क्रीम, नेकटर, जूस आदि बनाने के प्रयोग में लाया जाता है। केला का गूदा बनाने के लिए समान रूप से पके एवं रोग रहित फलों को स्वच्छ पानी से होने के पश्चात छीलकर उनके टुकड़े काट लें। कटे हुए टुकड़ों का पल्पर या होमोजनाइंजर द्वारा उनका गूदा निकाल लें। गूदे को 75-78 डिग्री सें.ग्रे. तक गर्म करें। गूदे में 0.3 प्रतिशत सिट्रिक अम्ल एवं 1000 पी.पी.एम. पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट (1 ग्राम/कि.ग्रा.) परिरक्षक थोड़े से पानी में घोल कर अच्छी तरह से मिलायें। गूदे को स्वच्छ एवं निर्जर्मीकृत जार में भंडारित करें।

बनाना फिगः फिग मुख्यतः ऐसी किस्मों द्वारा बनाया जाता है जिसमें शर्करा की मात्रा अधिक होती है जैसे-रस्थली, नेयपूयन। फिग को धूप/डीहाइड्रेटर/आस्मोटिक ड्राइंग द्वारा सुखाया जाता है। पके हुए केला को छील कर 3 प्रतिशत सल्फयूरिक अम्ल द्वारा उपचारित कर 60 डिग्री तापमान पर 10-18 प्रतिशत नमी रहने तक सुखाते हैं। इन्हें एक साल तक कमरे के तापमान पर भंडारित किया जा सकता है। आस्मोटिक बनाना फिग बनाने हेतु केले की 8 मि.मी. मोटी फाँकों को काट कर 70 डिग्री ब्रिक्स शर्करा के घोल में 8-10 घंटे तक रखते हैं। घोल से निकालने के उपरान्त 2.5 प्रतिशत नमी रहने तक सुखा कर स्वच्छ एवं वायु अवरोधी जार में भंडारित करें।

फ्रूट बारः केला की विभिन्न व्यावसायिक किस्मों द्वारा फ्रूट बार बनाया जा सकता है। बार बनाने के लिए पके हुये केला के गूदे में (1 किलो गूदे में 550 ग्राम) चीनी मिला कर गर्म करें। लगभग एक-तिहाई हो जाने पर (500 पी.पी.एम. पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट) परिरक्षक थोड़े से पानी में घोल कर मिलायें। तैयार मिश्रण को काँच की ट्रे में फैलाकर डीहाइड्रेटर में 20 प्रतिशत नमी रहने तक सुखायें। सूखने के पश्चात बार को टुकड़ों में काट कर सेलोफेन पेपर में पैक कर भंडारित करें। बार को 6 महीने तक आसानी से भंडारित किया जा सकता है।

केले की चिप्सः दक्षिण भारत में केला की चिप्स काफी लोकप्रिय है। ननेन्द्र, दखनीसार, कुठिया, चिनिया आदि किस्में केला की चिप्स बनाने हेतु अधिक उपयुक्त हैं। चिप्स के लिए कच्चा केला को छीलकर किसी तेज धारदार स्लाइडर/चाकू से 2 मि.मी. की पतली स्लाइसेस/चिप्स काट लेते हैं। कटी हुई स्लाइसेस को 3 प्रतिशत नमक, 0.3

प्रतिशत, सिट्रिक अम्ल एवं 0.25 प्रतिशत पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट के घोल में 30 मिनट तक रखते हैं। घोल से निकालने के पश्चात साफ कपड़े पर सुखायें। तदुपरान्त खाने वाले तेल में तलें। तेल को दुर्गन्ध से बचाने के लिए ऐंटीऑक्सीडेंट ब्यूटेराइड हाइड्राक्सी टेलूयान को मिलाया जा सकता है। ठंडा होने पर चिप्स को पॉलीथीन बैग या वायु अवरोधी जार में भंडारित करें।

अचारः भोजन को स्वादवर्द्धक बनाने के लिये अचार का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। अचार कच्चा केला एवं फूल दोनों से बनाया जा सकता है। केला से अचार बनाने के लिए केला को 8 मि.मी. मोटी फाँकों में काटकर ब्लान्च कर लेते हैं। ब्लान्च फाँकों को हवा में सुखाकर उसमें स्वादानुसार मसाला, नमक, सिरका एवं तेल मिलाकर भंडारित करें। फल से अचार बनाने हेतु उनसे स्टेमेन्स को निकाल कर ब्लान्च कर लें। तत्पश्चात ग्राइन्ड कर के भून लें। भूनने के पश्चात स्वाद के अनुसार सिरका, नमक, मसाले एवं तेल मिला कर भंडारित करें।

जूसः केला के गूदे को पेक्टिनेज एन्जाइम द्वारा उपचारित कर उसका जूस निकाल कर छान लेते हैं। जूस में 0.3 प्रतिशत सिट्रिक अम्ल एवं 12-15 प्रतिशत चीनी मिलाकर गर्म करते हैं। गर्म-गर्म जूस को निर्जर्मीकृत बोतलों में भरकर सील कर भंडारित करें। नेच पुवन, बार पुरावैली, रस्थली, केविन्डिश किस्में जूस के लिए उपयुक्त हैं।

स्वीट बनाना क्रिस्पः स्वीट बनाना क्रिस्प बनाने हेतु छोटे आकर का केला लेकर उन्हें पीलर द्वारा छील लेते हैं। तत्पश्चात इनके 2 मि.मी. मोटे चिप्स लम्बाई में काट लें। इन्हें 2 प्रतिशत सिट्रिक अम्ल, नमक एवं पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट के घोल में 30 मिनट तक रखें। घोल से निकालकर सुखा लें एवं घी में तल लें। तले हुए चिप्स को तीन तार की चॉशनी में डिप करें। तैयार बनाना क्रिस्प को पॉलीथीन बैग में पैक कर भंडारित करें।

किण्वित उत्पादः रस्थली, पूवन नेचपूवन, कारपुरावैली, किस्में बनाना वाइन और ब्रांडी बनाने हेतु उपयुक्त पायी गयी हैं। पके हुये केला के गूदे को 0.2 प्रतिशत पेक्टिनेज इन्जाइम द्वारा चार घंटे तक उपचारित कर जूस निकाल लेते हैं। जूस में यीस्ट मिला कर 4-5 दिन तक किण्वित करते हैं। बनाना ब्रांडी के लिये किण्वित लिकर को डिस्टिल कर लेते हैं। बनाना वाइन में अल्कोहल की मात्रा 12-13 प्रतिशत और ब्रांडी में 35-40 प्रतिशत तक होती है।

शहदः रिका में पके हुये केला के पूरे बन्च को छील कर धीमी आँच में कई घंटों तक उबाल कर गाढ़ा सीरप बनाते हैं जिसे शहद कहते हैं। इसी प्रकार क्यूबा साइबेरिया, आइसलैण्ड में कच्चे केला को छिलके सहित उबाल कर प्रयोग में लाते हैं।

जानवरों का भोजनः केला की भंडारण क्षमता काफी कम होती है। फलस्वरूप यह जल्दी ही खराब हो जाते हैं। बेकार फल जो कि प्रोटीन, विटामिन एवं खनिज से भरपूर होते हैं जानवरों विशेषकर गाय एवं सुअरों का अच्छा भोजन हैं। लेकिन कच्चे फल सूखे एवं कसैले होने के कारण जानवर इन्हें नहीं खाते हैं। इसलिये इन्हें प्रसंस्कृत कर डिहाइड्रेट बनाना मील विकसित की गयी है।

आणविक खेती एवं मानव स्वास्थ्य

निमिषा शर्मा[1], मीनाक्षी मलिक[2], मनीष मिश्र[3] एवं मुत्थु कुमार[4]

[1]भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली

आणविक खेती का प्रयोग जैवप्रौद्योगिकी तकनीक द्वारा पौधों में व्यापक स्पर पर उपयोगी उत्पाद उत्पन्न करने हेतु किया जाता है। इस पद्धति द्वारा विभिन्न प्रकार के शर्करा, वसा, प्रोटीन एवं द्वितीयक उत्पाद उत्पन्न किये जाते हैं जो मनुष्य एवं पशुओं के स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

आज के तकनीकी युग में जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुत सारे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। इनमें स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सभी जानते हैं कि संतुलित आहार शर्करा, प्रोटीन, वसा इत्यादि के पर्याप्त मात्रा में होने से सम्पूर्ण होता है। बढ़ती हुई आबादी तथा कम होते हुए खाद्यान उत्पादन को देखते हुए नयी पद्धतियों का प्रयोग कर जनसमुदाय के लिए पर्याप्त मात्रा में संतुलित आहार पैदा करने हेतु उचित दिशा में पुख्ता कदम उठाने होंगे।

पौधे वाणिज्यिक स्तर पर उपयोगी शर्करा उत्पन्न करते हैं जिसमें से सेलूलोज़ एवं स्टार्च सबसे अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। लेकिन इसकी उपज़ और गुण जैवप्रौद्योगिकी तकनीक द्वारा और बढ़ायी जा सकती है। इन शर्कराओं के निर्माण हेतु जो किण्वक ओर जीन हैं उन्हें पृथक कर दूसरे पौधों में जीन परिवर्तन द्वारा ट्रांसजैनिक पादपों का निर्माण किया जा रहा है। शर्करा ट्रांसजैनिक हेतु जीन आलू, तम्बाकू, चुकन्दर, सरसों आदि में स्थानांतरित किये गये हैं जो व्यावसायिक स्तर पर भोजन, डीटरजेंट एवं औषधीय निर्माण हेतु प्रयुक्त हो रहे हैं। भोजन के साथ-साथ कुछ शर्करा जैसे ट्रेह्लोज़ का उपयोग सूखा प्रतिरोधी पौध निर्मित करने में भी हुआ है, इसलिए यीस्ट और *इ.कोलाई* से जीन पृथक कर चावल, आलू एवं तम्बाकू में स्थानांतरित किया गया है ताकि यह महत्वपूर्ण फसलें भी सूखे के प्रति सहनशील हों।

जीन अभियांत्रिकी द्वारा नये वसा युक्त पादपों के निर्माण कार्य प्रगति पर है। हमारे दैनिक जीवन शैली में आज पादप द्वारा उत्पन्न होने वाले तेल के स्थान पर पशु प्रदत वसा का प्रचलन बढ़ रहा है।

पादप प्रदत वसा मुख्यतः खाने में उपयोग होती है। इसकी औद्योगिक महत्ता को जैवप्रौद्योगिकी द्वारा परिवर्तन कर बढ़ाया जा सकता है। साथ ही आणवीकरणीय पेट्रोलियम आधारित उत्पाद की जगह प्रयुक्त किया जा सकता है। विभिन्न वसा की गुणवता में अंतर उनके वसीय अम्लों के रासायनिक संगठन की वजह से होता है जो उनके संतृप्त बिंदु को निर्धारित करते हैं। इस रसायनिक संगठन को निर्धारित करने वाले किण्वक एवं प्रोटीन को पृथक कर दूसरे पौधों में डालकर अधिक गुणवता वाले वसीय अम्ल तैयार किये जा सकते हैं।

[1]वैज्ञानिक, [2]वैज्ञानिक, रा.स.ना.प्र.सं., [3]वरि.वैज्ञा. एवं [4]वैज्ञानिक, के.उ.बा.सं.

शरीर के विकास हेतु प्रोटीन भी एक अहम भूमिका रखती है। भारत में खाद्यान में मुख्यतः अनाज का प्रयोग होता है जिसमें प्रोटीन की मात्रा एवं आवश्यक अमीनो अम्ल कम होते हैं। इस दिशा में आणविक खेती द्वारा अमीनो अम्ल, जो प्रोटीन निर्माण की आधारशिला है, में परिवर्तन कर अधिक गुणवत्ता वाले प्रोटीन, ऐंटीबाडी एवं वैक्सीन निर्मित किये जा सकते हैं। प्रोटीन संश्लेषित करना और इसके क्रियात्मक होने में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन जैसे प्रोटीन तह, शुद्धिकरण भी जरूरी हैं। इसके औद्योगिक पैमाने पर उत्पादन हेतु जीवाणवीय एवं यीस्ट माध्यम प्रयुक्त हो रहा है।

जैवप्रौद्योगिकी प्रयुक्त कर पादप प्रदत वैक्सीन भी निर्मित की जाती है। इस पद्धति के उपयोग के पीछे सस्ती एवं प्रभावी औषधि निर्माण करना है जो बीमारियों से निजात दिलाने में प्रभावी सिद्ध हो सकती है। विषाणु एवं जीवाणीय माध्यम पुनः संयोजक प्रोटीन उत्पन्न करने हेतु प्रयुक्त हो रहे हैं। प्रारंभिक स्तर पर वैक्सीन निर्माण अखाद्य पादप जैसे तम्बाकू में किया गया। इसके उपरान्त इसे खाद्य पादप जैसे टमाटर और केला में किया गया। पशुओं के लिए खाद्य वैक्सीन का प्रयोग चारे वाली फसलों में किया गया। उदाहरण के तौर पर इन्टरफेरान, एन्टीट्रिपसीन चावल में, प्रोटीनीन मक्का में, लेक्टोफेरिन, आलू में, एन्केफेलीन केनोला में आदि उत्पन्न किये जा रहे हैं।

आनुवंशिक रूप से संशोधित खाद्य पदार्थ दुनिया में भूख और कुपोषण की समस्याओं को हल करने के लिए, उपज बढ़ाने और रासायनिक कीटनाशकों पर निर्भरता को कम करने के साथ ही पर्यावरण की रक्षा करने की क्षमता रखती है फिर भी इसके अभिग्रहण में चुनौतियों है। अनेक सुरक्षा का परीक्षण, विनियमन, अंतर्राष्ट्रीय नीति और खाद्य लेबलिंग आदि पर आनुवंशिक यांत्रिकी भविष्य की अपरिहार्य लहर अत्यन्त लाभदायक है। कुपोषण सामान्यतः वहाँ पाया जाता है जहाँ गरीबों को अपने आहार के लिए मुख्य भोजन के लिए चावल जैसी एक ही फसल पर निर्भर होना पड़ता है जो तीसरी दुनियाँ के देशों में आम है। हालाँकि, चावल सभी आवश्यक पोषक तत्वों की पर्याप्त मात्रा में कुपोषण को रोकने के लिए कारगर नहीं है। अगर चावल आनुवंशिक रूप से परिवर्तित कर दिया जाये तो पोषक तत्वों की कमी को दूर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विटामिन ए की कमी के करण अंधापन तीसरी दुनिया के देशों में एक आम समस्या है। स्विटजरलैंड के शोधकर्ताओं ने ''सुनहरा' बीटा कैरोटीन (विटामिन ए) के एक असामान्य रूप से उच्च सामग्री युक्त चावल बनाया है। दवाएँ तथा टीकों का उत्पादन बहुत ही महँगा है साथ ही विशेष भंडारण स्थितियों की आवश्यकता होती है जो तीसरी दुनिया के देशों में आसानी से उपलब्ध नहीं है। शोधकर्ता टमाटर और आलू में खाद्य टीके विकसित करने के लिए काम कर रहे हैं। इन टीकों को बहुत आसानी से उपलब्ध कराया जा सकता हैं यह अभिलेख मुख्यतः शर्करा, वसा और प्रोटीन पर केन्द्रित हैं जो हमारे भोजन के मुख्य संघटक हैं। वसा एवं प्रोटीन निर्माण में अभी और आधार शोध की आवश्यकता है इसके साथ कम लागत आये इस बिंदु पर भी चिंतन जरूरी है। इन्हीं सभी बिन्दुओं को आधार रखकर जैवप्रौद्योगिकी का सकारात्मक प्रभाव मानव एवं पशुजीवन के साथ सम्पूर्ण जनकल्याण पर देखा जा सकेगा।

नोट

नोट

डा० एच रविशंकर, निदेशक (बीच में) एच.ए.एल. के महाप्रबंधक से नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठक 68वीं के दौरान पुरस्कार ग्रहण करते हुए

army printing press
www.armyprintingpress.com
Lucknow (0522) 2481164